वेद-वाणी

[हिन्दी अनुवाद]

द्वि

ती

य

प्र

चा

र

स्वामी पूर्णानन्दजी गिरि
बंगाली शिवालय, ऋषिकेश [हरिद्वार]

52

शारदा पुस्तकालय
(संजीवनी शि. द. केन्द्र)
क्रमांक ... 52 ...

वेद वाणी

द्वितीय प्रचार

हिन्दी अनुवाद

अनुवादक :— ब्रह्मलीन स्वामी विज्ञानन्द जी

[सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन]

ब्रह्मलीन स्वामी श्री श्रीपूर्णानन्दजी महाराज
शिवालय, ऋषिकेश (हरिद्वार)

प्रकाशक : पूर्णानन्द मैमोरियल ट्रस्ट
शिवालय ऋषिकेश (हरिद्वार)
मंत्री : स्वामी अशोकानन्द

सम्पादक : विजय एम. ए.,

प्राप्ति स्थान : १. बंगाली शिवालय
ऋषिकेश हरिद्वार

२. कु० निर्मला शर्मा एम. ए. एल. टी,
प्राध्यापिका चन्दनलाल नैशनल
इन्टर कालेज, कांधला, (जि० मुजफ्फर नगर)

न्यौछावर : छः रुपये
गुरुपूर्णिमा २०३८

सम्पादकीय

मानव मात्र में उसके बाल्यकाल से ही एक पिपासा विद्यमान है। नवजात शिशु ने उसे मातृ क्रोड़ में ढूंढा, बहिन और भाई के स्नेह में ढूंढा पुनः मित्र और पत्नी के प्रेम में भी। यही नहीं संसार के अनेकानेक वैभवों के प्रति उसका सहज आकर्षण मानव के अनजाने में ही उसे उद्वेलित करता रहा। कुछ समय के लिये मन रमा पर आज तक भी उसकी भूख का शमन न हुआ, तृष्णा की शान्ति नहीं हुई। संसार का बड़े से बड़ा वैभव भी उसे पूर्ण सन्तोष न दे सका उसके अन्तर में व्याप्त अभाव की पूर्ति न कर सका—उसकी उससे भी अनजानी खोज निरन्तर बनी रही, यही इस बात का परिचायक है कि उसकी माँग उन सब अस्थायी प्राप्तव्यों से कुछ भिन्न थी।

इसका कारण है कि जीव सदा से ही प्रेमकी, आनन्द की खोज में रहा है, उसी अखण्ड पूर्ण ब्रह्मानन्द का अंश है, उसी से अलग होकर संस्कार भोग के लिये वह वहीं से आया है और वहीं लौटकर उसे चिरशान्ति की अनुभूति होगी तथा आनन्द की उपलब्धि। उसकी अन्तर्निहित माँग उसी ब्रह्मानन्द तत्व को पाकर तुष्ट होगी। शास्त्र-पुराणादि ने, महत्जनों ने एक स्वर से जीवन का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति कहा। जब यह

मान लिया तब जीव का कर्तव्य ही फिर क्या शेष रह गया। संसार में भी कणांश से वही ब्रह्मानन्द सत्ता परिव्याप्त हैं। वही हमें उस अखण्ड ब्रह्मानन्द का बोध करा रही है। जिस कारण से बोध हुआ, उसका परित्याग कैसे करें ? सजग रहना है केवल उसके प्रति आकर्षण से जो मिथ्यावत हैं।

मिथ्या को छोड़ उससे भिन्न जो प्राप्तव्य है, वांछनीय है, अभीष्ट है, अभीप्सित है, ग्राह्य है—जीवन का लक्ष्य हैं, उसी ओर अग्रसर होना है—तभी अन्तर में छिपी अनजानी मांग तृप्त होगी और परमानन्द की प्राप्ति।

प्रकाशकीय

यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थ्यः प्रकाशन्ते महात्मन् ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ वेदवाणी द्वितीय प्रचार परम आराध्य श्री श्रीपरम गुरुदेव श्री १०८ श्रीमत् स्वामी पूर्णानन्दजी गिरि द्वारा लिखे बंगला भाषा में प्रकाशित 'वेदवाणी' का हिन्दी अनुवाद हैं। इसका अनुवाद ब्रह्मलीन स्वामी श्रीविज्ञानन्दजी महाराज ने अपने जीवनकालमें किया था। श्रीविज्ञानन्दजीकी शिष्या श्रीमति विनोद ने इसकी पाण्डुलिपिको सुरक्षित रखा तथा समय पर हमें सौंप बहुत बड़ा उपकार किया है। इस हिन्दी प्रकाशन का प्रचार कांघला निवासी हमारे गृहस्थी गुरु भाई श्री पं० कैलाश नाथ शर्मा तथा स्वर्गीय श्री पं० जयनारायणजी की इच्छानुसार उनकी सुपुत्री श्रीमति सुशोला शर्मा एम. ए., कुमारी निर्मला शर्मा एम. ए., एल. टी., तथा सुपुत्र श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा एम. ए., बी. टी., ने उनको स्नेहभरी स्मृति में कराया हैं। पं श्री जयनारायणजी की आत्मा को चिर शान्ति मिले—ऐसी भगवान से प्रार्थना है।

स्वामी श्रीपूर्णानन्दजी महाराज के चरित्र के पक्ष में हमारे सामने स्वामीजी महाराज के वेदवाणी तीन भागों में, पूर्ण ज्योति तथा Yoga and Perfection आदि ग्रन्थ ही प्रमाण हैं। उनकी शिष्य परम्परा में, श्रीमत् डा० स्वामी ज्ञानानन्दजी, स्वामी अमलानन्दजी, स्वामी ध्रुवानन्दजी, स्वामी असंगानन्दजी, स्वामी अमृतानन्दजी, स्वामी तुरीयानन्दजी, स्वामी परानन्दजी, स्वामी विज्ञानन्दजी, स्वामी निरञ्जनानन्दजी स्वामी निर्वाणानन्दजी, श्रीस्वामी ब्रह्मानन्दजी स्वामी अच्युतानन्दजी, स्वामी महानन्दजी, स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, स्वामी निर्दोषानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीस्थिरानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीभूमानन्दजी, श्रीमति ब्रह्मचारिणी भारती माई जी, श्रीमति ब्रह्मचारिणी तृप्ती माईजी इत्यादि मुख्य हुए। कुछ अन्य गृहस्थी शिष्य भी हुए।

स्वामीजी रत्नगर्माधरणी की भाँति शोभायमान थे। भगवान शिव की कृपा से उनका अभीष्ट सिद्ध हो चुका था। स्वामी श्रीज्ञानानन्दजी, स्वामी श्री अमलानन्दजी, स्वामी श्रीनिर्दोषानन्दजी, स्वामी श्रीस्वतन्त्रतानन्दजी महाराज प्रभृति विभूति सम्पन्न भारत में महात्मा रत्न गिने जाने योग्य हैं। श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज योग समाधि परायण होने पर भी भारत सरकार को सहयोग दे विज्ञान में शोध कार्य करते रहे। वे तत्कालीन अन्यतम वैज्ञानिक गिने जाते थे। श्रीस्वामी अमला-

नन्दजी समाधि अभ्यासशील महात्मा थे ब्रह्म रन्ध्र भेदन करके उन्होंने पुण्य तीर्थ देवप्रयाग में महासमाधि ली। दोनों ही महात्माओं ने ग्रन्थ प्रणयन भी किया। श्रीस्वामी निर्दोषानन्द जी तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज हृषीकेशस्थ उत्तर भारत के विख्यात सिद्ध पीठ कैलासाश्रम में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। दोनों ही आज भी साधु समाज में मुकुट मणि गिने जाते हैं।

'पूर्ण ज्योति' ग्रन्थ में स्वामीजी महाराज ने मानव-जीवन को धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष चतुर्वग पुरुषार्थ सिद्धि प्राप्ति की पद्धति सरल तथा प्राञ्जल भाषा में समझाई हैं, जो सभी के लिये उपयोगी है।

शुक्ल चतुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के वृन्दारण्यक उपनिषद् की व्याख्या प्रसङ्ग में भगवान भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने **"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मदुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते"** (बृह-उप० ५।१।१।।) इस मन्त्र के भाष्य में कहा है कि इस मन्त्र का पहिले उपनिषद् का १।४ १० वाँ मन्त्र **"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्, तस्मात्तत्सर्वमभवत्"** यह श्रुतिवाक्य व्यक्त हुआ है—यह "पूर्णमदः" इत्यादि मन्त्र उसी का ही अर्थ प्रकाश है। "जो यहाँ वही परलोक में, जो परलोक में वही यहाँ", इस प्रकार से दूसरो श्रुति भी इस अर्थ को ही

प्रकाश कर रहो हैं। अतः समझने का विषय यह है कि "अदः" शब्द का मुख्य अर्थ जो (परोक्ष) पूर्णब्रह्म हैं, वही फिर से अर्थात् पुनः "इदं" पदार्थ (अपरोक्ष) परिपूर्ण ब्रह्म ही है, केवल अविद्यावशतः नामरूपोपाधि के संयोग से कार्यावस्था में ['त्वं' पदार्थ रूप में] अभिव्यक्त होकर, वह परमार्थ-सत्य-स्वरूप से भिन्नवत् प्रतीयमान होता है। आत्मा में ही पूर्ण ब्रह्मरूप के अवगत होकर "मैं ही वह पूर्णब्रह्म स्वरूप हूँ" इसी प्रकार से आत्मा का पूर्णभाव ग्रहण करके, इस यथोक्त ब्रह्मविद्या प्रभाव से अविद्याकृत नामरूपोपाधि सम्पर्क-जनित अपूर्णभाव अपनीत होने से केवल पूर्णस्वरूप ही अवशिष्ट रहता हैं, यह अभिप्राय ही "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" वाक्य में व्यक्त हुआ है। इस मन्त्र का भाष्य तात्पर्य ही हमारे परम पूज्य गुरु जी के जीवन में पूर्णरूप से ओत-प्रोत था। केवल अपने में उस तत्त्वानुभूति से ही वे मस्त होकर जीव-जगत से पूर्णतः उदासीन नहीं थे, वरन् जीव-जगत के दुःख की निवृत्ति कैसे हो सके, कैसे सबका कल्याण हो सके, इन सब बातों को सोच-विचारकर के ही उन्होंने शास्त्रों का निचोड़–जो परम रहस्यभूत परमतत्त्व है, उसका सुगमतापूर्वक जिससे सब कोई उपलब्धि कर सकें—उसके लिये ही अपने समाज के धर्माचार्य रूप से शिष्यवर्ग को साक्षात् रूप से और अन्य कल्याणकामियों को परम्परा रूप से "पूर्णज्योतिः" आदि ग्रन्थों का प्रणयन कर एवं चक्रव्यूहादि सहित अनुपम शिवजी का मन्दिर स्थापित करके तथा परब्रह्मस्वरूप परमगुरु

विश्व के एकमात्र वन्दनीय रहस्यभूत तत्त्व को इस जीवन में उपलब्धि कर कृतार्थ होने के लिये—उसकी विशेष विवरणादि सहित पूजा-पद्धति आदि की रचना कर कृपा की। मानव, तपस्या शक्ति के विकास से क्या नहीं कर सकता! शास्त्र भी कह रहे हैं "तपोहि दुरातिक्रम"। हमारे पूज्य स्वामी जी एकाधार में गुणी, तपस्वी, योगी तथा उपलब्धि-परायण तत्त्व-दर्शी आचार्य महापुरुषों में गिने जाते हैं।

यद्यपि उनके पाञ्चभौतिक कलेवर का प्रारब्धानुसार अवसान हो चुका है तथापि सिद्ध देह से वे नित्य हमारे साथ हैं। वही शास्त्रप्रतिपाद्य परमात्मा "पूर्णानन्द" नाम लेकर, शरीर धारण कर साक्षात रूप से उपदेश-शक्तिपातादि से कृपा कर अब तिरोभूत होते हुए भी अपने उपदेशों के माध्यम से श्रद्धालु साधकों पर पूर्ववत् कृपा करते रहेंगे—ऐसा विश्वास सनातन शास्त्र में हम श्रद्धालुओं का है। ऋषि पतञ्जलि योग-भाष्य में कहा है कि श्रद्धा, कल्याणी जननी की भाँति योगियों की रक्षा करती है"। **"श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणि योगिनं पाति"**। (योगसूत्र १।२० भाष्य)

अतः उनके आध्यात्मिक उपदेशों का जितना प्रचार तथा प्रसार हो सके उतना ही कल्याण-कारक होगा जो-जो धर्म-परायण व्यक्ति इस विषय में आदरपूर्वक सहयोग देंगे वे

भी पूज्ज श्रीस्वामी जी महाराज के दिव्य आशीर्वाद को प्राप्त करेंगे तथा उनका हिताभीष्ट सिद्ध होगा।

इसके सम्पादन आदि तथा मुद्रण-व्यवस्था के लिये हम श्री विजय एम. ए. वृन्दावन निवासी के आभारी हैं।

स्वा० अशोकानन्द
मन्त्री–स्वामी पूर्णानन्द मेमोरियल
ट्रस्ट, श्रीपूर्णानन्द आश्रम,
शिवालय, ऋषिकेश

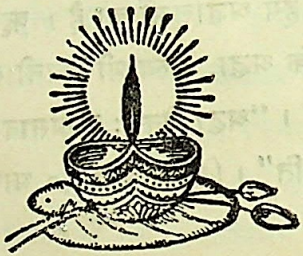

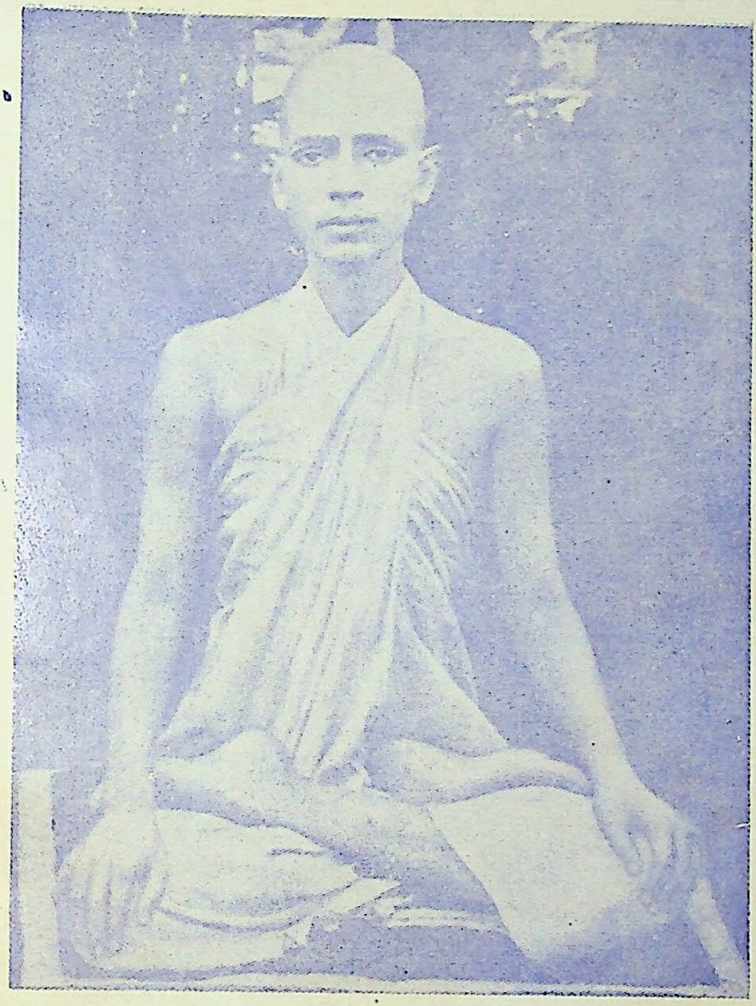

प्रस्तावना

विचार विनिमय में पत्रों का बहुत बड़ा योगदान है। इनके माध्यम से दूर रहने पर भी सामीप्य की अनुभूति होती है—प्रत्युत यों कहना सर्वथा संगत ही है कि पत्र हमारी उन सब भावनाओं को सहज वहाँ पहुँचा देते हैं जहाँ हमारा भौतिक देह सर्वदा पहुँच नहीं सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी स्वामी पूर्णानन्दजी गिरि महाराज द्वारा अपने शिष्यों को लिखे गए पत्रों का संग्रह है। बंगला भाषा में स्वामीजी ने पत्र लिखे और 'वेदवाणी' नाम से प्रकाशित हुए। अपरोक्ष अनुभूति तथा ज्ञानमय तथ्यों से परिपूर्ण होने के कारण इस पत्रावली को 'वेदवाणी' आख्या दी गई। स्वामीजी महाराज ने जो भी कहा अथवा लिखा वह सब वेद-शास्त्रों का आधार लेकर ही था। सिद्धान्त रूप में साधक की प्रारम्भिक स्थिति, साधना और लक्ष्य प्राप्ति का उपाय इस ग्रन्थ में ओत-प्रोत है।

बंगला भाषा में ग्रन्थ होने के कारण यह एक-पक्षीय साधकों के उपयोग तक ही सीमित रहा। ऐसा अमूल्य ग्रन्थ अधिक से अधिक साधकों के जीवन का आधार बने इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कर छपवाने की इच्छा हुई। मेरी मातृ भाषा बंगला थी, साहस बाँधकर मैंने यह कार्य शुरु किया। भगवान की असीम अनुकम्पा से स्वामी श्रीसनातन देव से सम्पर्क हो गया। (उन्होंने पूर्वाश्रम में गीता प्रेस के लिये

भी कार्य किया) ये महात्मा मुझे अपनी सहायता देने को सहर्ष तैयार हो गए। मेरी भाषा को इन्होंने जहाँ-तहाँ संशोधन कर शुद्ध हिन्दी का रूप दिया। वही ग्रन्थ-रूप में पाठकों के सामने है। इसका श्रेय मुख्यत: मैं उन्हीं को देना चाहूँगा। मेरा प्रयास तो उनकी सहायता से यंत्रवत ही था।

यदि इस ग्रन्थ को पढ़कर साधक वर्ग किञ्चिन् मात्र भी लाभान्वित होगा तो मैं अपने तथा श्रीस्वामीजी महाराज के प्रयास को सफल समझूंगा।

ॐ शान्ति:, शान्ति:, शान्ति

ब्रह्मलीन स्वामी विज्ञानन्दजी
श्रीरामकृष्ण साधन कुटीर
कसौली (शिमला)

बैगाब्द ३, भाद्र १३६७

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ, स्वामी श्रीपूर्णानन्दजी गिरि द्वारा लिखे गए पत्रों का संग्रह, जो 'वेदवाणी' नाम से बंगला भाषा में छपा, का हिन्दी अनुवाद है। स्वामीजी महाराज के पत्र तीन भागों में लिपि बद्ध हुए। पहला तथा तीसरा भाग पहले ही छप चुके हैं तथा दूसरा आपके हाथों में है।

यह पत्र केवल पत्र नहीं हैं। स्वामीजी महाराज के जीवन की अनुभूतियाँ हैं। इनमें साधन का क्रम, साधक के लिये जीवन में आने वाली विभिन्न कठिनाईयाँ, अनुभूति और प्राप्ति; अथवा यह कहना होगा कि स्वामीजी ने वह सब इन ग्रन्थों में पहिले ही सविस्तार कह दिया है जो एक साधक की अपेक्षित और अवश्यम्भावी जिज्ञासा हो सकती है। वे ज्ञान-मार्गी थे फिर भी उन्होंने अपने विचारों को किसी पर थोपने का प्रयास नहीं किया, अपितु जिस मार्ग से साधक को प्राप्ति हो सके वैसा ही समन्वयात्मक दृष्टिकोण उनका रहा है। वे जितना ज्ञान और कर्म मार्ग के प्रति आस्थावान थे उतना ही भक्ति के प्रति भी। जहाँ एक ओर दैन्य और समन्वय उनके जीवन का भूषण रहा है वहाँ साधकों को कटु वाक्य कहकर भी पथारूढ़ करने में वे नहीं चूके हैं। यह ग्रन्थ साधकों के हाथ में हैं—वे इसका अनुभव स्वयं करेंगे।

इस ग्रन्थ के अनुवादक महोदय बंगला भाषा भाषी थे। अतः अनुवाद में जहाँ-तहाँ बंगला का पुट झलका है।

जगह-जगह शब्दों की पुनरावृत्ति अखरती भी है। सम्भवतः स्वामीजी के भावों को ठीक से स्पष्ट करने और प्रभावशाली बनाने के लिये दिवंगत श्रीविज्ञानन्दजी ने ऐसा किया है। अनुवाद को यथा सम्भव ज्यों का त्यों रखने की भरसक चेष्टा करने पर भी कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े हैं जिसके लिये अनुवादक महोदय से क्षमा प्रार्थी हूँ।

आज इस दूसरे भाग का प्रकाशन होने पर, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है जिसमें मेरे स्वर्गीय पिताजी का आत्मबल पुरुषार्थ रूप में मेरा सहायक रहा है, फलस्वरूप यह कार्य उनकी इच्छानुसार यथावत सम्पन्न हो गया।

अन्त में मैं, उन सभी बहिन-भाईयों का जिन्होंने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने तथा इसके प्रूफ संशोधन आदि में बड़े उत्साह से मेरी सहायता की, धन्यवाद करती हूँ। वास्तव में उन सभी के सहयोग से ही यह ग्रन्थ पाठकों के हाथों में पहुँच पाया है।

कु० निर्मला शर्मा एम. ए. एल. टी,
प्राध्यापिका, चन्दनलाल नैशनल
इन्टर कॉलेज, काँधला
(जिला-मुज़फ्फ़र नगर)

गुरु पूर्णिमा २०३८

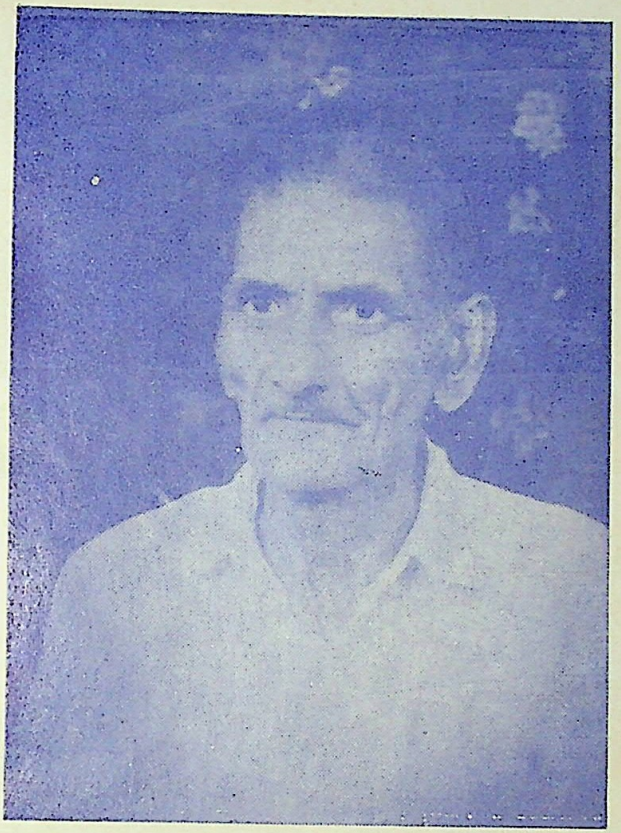

श्री स्वामी जी महाराज के कृपापात्र शिष्य मेरे
पूज्य पिता पं० जयनारायणजी जिनकी
तीव्र इच्छा हिन्दी प्रकाशन
रूप में प्रस्तुत है ।

—कु० निर्मला शर्मा

वेद-वाणी

प्र
थ
म
भा
ग

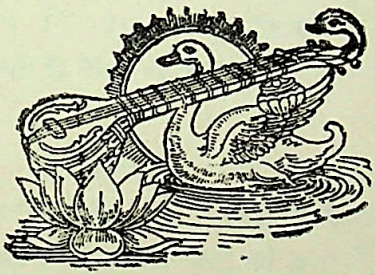

१

ॐ

प्रथम अध्याय

सब से पहिले एकमात्र जो विराजमान थे, अनन्त-अतीतकाल में जो सर्वदा ही पूर्णरूप से वर्तमान रहे, अब भी जो पूर्णरूप से वर्तमान हैं, भविष्य में भी जो पूर्णरूप से वर्तमान रहेंगे तथा प्रलयान्त में भी जो विद्यमान रहेंगे, उन अद्वितीय सनातन परब्रह्म को छोड़कर, अज्ञान कल्पित अनित्य पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१

जो सर्वदा सर्वत्र वर्तमान हैं, जो सब वस्तुओं में नियत रूप से विद्यमान हैं, जो विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र आधार हैं, उन निराधार, अनन्तदेव को छोड़कर नाशवान पवार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२

जो सम्पूर्ण जगत के सृष्टिकर्ता हैं, जो समस्त जगत् के पालनकर्ता हैं, उन विश्वविधाता को छोड़कर सृष्ट (रचित) पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

३

सम्पूर्ण प्राकृतिक-शक्तियाँ जिनके भिन्न-भिन्न विकास मात्र हैं, जड़ और चेतन समुदाय जिनकी अभिव्यक्ति अथवा प्रकट स्वरूप मात्र हैं, उन सर्वशक्तिमान विश्वमूर्ति को छोड़कर क्षुद्र पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

४

जो एक और अनेक, निर्गुण और सगुण, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़ सभी कुछ स्वयं हैं, उन अवाङ्-मनस गोचरम् पुरुषोत्तम को छोड़कर जगत् के पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

५

जिनके अस्तित्व से ही जगत् का अस्तित्व है, जिनके चैतन्य से हीं जगत् का चैतन्य है जिनके आनन्द से ही जगत का आनन्द है, उन सच्चिदानन्द (सत्-चित्-आनन्द) को छोड़कर मिथ्या पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

६

जिनकी इच्छामात्र से अगणित ब्रह्माण्ड स्पन्दित (परिचालित) हो रहे हैं, जिनकी इच्छा से चन्द्र-सूर्यादि (ग्रह-मण्डल) घूम रहे हैं, जिनकी इच्छा से नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, जिनकी इच्छा से ही सम्पूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं, उन शान्त-मूर्ति चैतन्यदेव को छोड़कर अस्थिर जड़ पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

७

जिनकी इच्छा से जन्म ग्रहण किया, जिनकी इच्छा से प्राण धारण कर रहा हूँ, जिनकी इच्छा पर ही जन्म

और मृत्यु सम्पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं—उन परात्पर परमेश्वर का परित्याग करके पराधीन पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

८

जिनकी इच्छा से विचार प्रवाह चल रहा है, रुधिर गतिमान है, अन्न-परिपाक हो रहा है, स्वप्न देखे जा रहे हैं। उन सर्वनियन्ता को छोड़कर साधारण पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

९

जिनकी इच्छा से मन-बुद्धि नियन्त्रित होते हैं, जिनकी इच्छा से इन्द्रियाँ विषय क्षेत्र में विचरण करती हैं, उन अन्तर्यामी विश्वदेव को छोड़कर स्थूल पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१०

जो ज्ञानमय, प्रेममय और सर्वशक्तिमान हैं, जो सदा हम लोगों का कल्याण करते हैं, जो सर्वदा हम लोगों को मंगलपथ में परिचालित कर रहे हैं। उन मंगलमय जगद्गुरु को छोड़कर अमंगल पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

११

दुःख निवारण करने में जो एक मात्र समर्थ हैं, आनन्द प्रदान करने में जो समर्थ हैं, शान्ति लाभ करने के लिए केवलमात्र जिनकी कृपा ही हमारा अवलम्बन है, उन परम शिव (कल्याण स्वरूप) को छोड़कर विषमय पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१२

जिनकी इच्छा से सब कुछ पा सकते हैं, जिनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं पा सकते, जिनकी इच्छा से सब

कुछ हो सकता है, जिनकी इच्छा के विरूद्ध कुछ भी नहीं हो सकता, उन इच्छामय भगवान को छोड़कर तुच्छ पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१३

जिनका आश्रय ग्रहण करने से मैं बलवान हो जाता हूँ, जिनका आश्रय छूट जाते ही दुर्बल बन जाता हूँ, उन अभयरूपिणी महाशक्ति को छोड़कर भयावने पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१४

जो कुछ मिला, कृपा से मिला, भविष्य में जो कुछ मिलेगा, उनकी कृपा से मिलेगा, फिर उन्हीं राजराजेश्वर के चरणावलम्बन को छोड़कर तुच्छ पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१५

जब सारा संसार मुझे छोड़ देता है, तब भी जो मुझे कदापि नहीं छोड़ते, शोक में, विपत्ति में, आपत्ति में जो एकमात्र हमारे आश्रय और अवलम्बन हैं—उन सर्वाश्रय जगद्-बन्धु को छोड़कर, मोह उत्पन्न करने वाले पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१६

मुझसे छोड़े जाने पर भी जिन्होंने कभी मुझे नहीं छोड़ा, मेरे न चाहने पर भी जो सर्वदा स्नेह से मेरी रक्षा करते हैं, मेरे अनजाने में ही जो सदा मेरी उन्नति साधन में लगे रहते हैं, उन अहैतुक-कृपा-सिन्धु को छोड़कर हिंसा परायण पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१७

जो जो कुछ दे रहा है, वह जिनकी इच्छा से दे रहा हैं। जो, जो कुछ ले रहा है, वह जिनको इच्छा से ले रहा हैं, उन लीलामय विश्वनाथ को छोड़कर निर्थरक पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१८

जिनकी कृपा से यह मानव-जन्म पाया, जिनकी कृपा से शुभ बुद्धि मिली है, जिनकी करुणा से साधन का सुयोग प्राप्त हुआ, उन प्रेममय पतित-पावन को छोड़कर मलिन पार्थिव पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

१९

जिनकी दया से उन्हें स्मरण कर रहा हूँ, जिनकी कृपा से उनके प्रेम का, उनकी महिमा का यत्किंचित अनुभव कर रहा हूँ—उन दीनबन्धु को छोड़कर मायामय पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२०

जो प्रेम स्वरूप हैं, जो कृपा स्वरूप हैं, जो मंगल स्वरूप हैं और जो आनन्द स्वरूप है—उन सर्वकल्याण स्वरूप को छोड़कर अशान्त पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२१

जिनमें आत्म-विसर्जन करना ही परम पुरुषार्थ है। जिनको भूलकर रहना ही आत्मघात है, उन भावगम्य निर्विकार निरञ्जनदेव को छोड़कर अपवित्र पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

२२

जिनका स्मरण करने से ही अमरत्व की ओर आगे बढ़ रहा हूँ, जिनके विस्मृत होने से ही मृत्यु की ओर होने लगता हूँ। उन सुखमय जगन्नाथ देव को छोड़कर दुःखमय पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

२३

जिनकी प्राप्ति हो जाने पर कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता, जिनकी अप्राप्ति से किसी प्रकार का भी सन्तोष प्राप्त नहीं होता, उन पूर्ण-तृप्ति स्वरूप शांतिनाथ को छोड़ कर अशान्तिमय पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२४

जिनके मिलने से अमरत्व लाभ कर सकेंगे, जिनके न मिलने तक संसार बन्धन किसी प्रकार भी नहीं मिटेगा, उन अमृतस्वरूप को छोड़कर मृत्युस्वरूप पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

२५

जिनके न मिलने पर जगत दुःखमय भासता है, जिनके मिलने से ही जगत मधुमय बन जाता है। उन रसमय जगज्जीवन को छोड़कर निरर्थक पदार्थों को उपासना क्यों की जाए ?

२६

जिनका चिन्तन करने से ही दुर्बलता नष्ट हो जाती है, जिनको जानने से मोह-बन्धन कट जाता है। जिनके आनन्द में डूबने से मन-प्राण सराबोर हो जाते हैं, उन 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' को छोड़कर ज्ञान नाशक पदार्थों की उपासना क्यों की जाए ?

२७

जिनके नित्यस्मरण से जन्म-जन्मान्तरों का विषय-पङ्क धुल जाता है, जिनमें अनन्या-भक्ति उत्पन्न होने से ही वासनाओं के ज्वालामय प्रचण्ड दाहं से रक्षा होती है, सम्पूर्ण तन-मन से जिनकी सेवा-पूजा करने से दुःखक्लेशमय संसार सागर से पार पाया जाता है। जिनके चरण-कमलों में लगने से, आत्माहुति करने वाले त्यागियों द्वारा प्राप्य नित्यानन्द प्राप्त किया जाता है। उन 'शुद्धमपापविद्धम्' आत्मदेव को छोड़कर मृत्युजाल स्वरूप अशुद्ध पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२८

जगत जितना सुखप्रदान कर सकता है, वह जिन आनन्द स्वरूप के कोटि अंशों के एक अंश मात्र की भी तुलना नहीं कर सकता, जिस आनन्द सागर के बिन्दुमात्र स्मरण में ही संसार का परिपूर्ण आनन्द है,—उन भूमानन्द को छोड़कर अत्यल्प सुखद भासने वाली दुख के परिपूर्ण पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

२९

जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा पूर्णत्व है, जिनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है, उन सत्य स्वरूप परमात्मा को छोड़कर मिथ्या पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

३०

जिनके माहात्म्य वर्णन से, सब शास्त्र परिपूर्ण हैं, जिनके शान्तिमय चिन्तन में ऋषि, मुनि संलग्न हैं, उन महिमामय को छोड़कर अस्थिर पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

३१

जिन्हें प्राप्त करने का पथ वेद प्रदर्शन करते हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए ऋषि मुनि उपदेश प्रदान करते हैं, जिनके गुणगान में मग्न होकर महापुरुष हमारे मन को उस पदवी की ओर आकृष्ट करते हैं—उन प्रेम सिन्धु को छोड़ कर दूसरे पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

३२

श्रेष्ठतम पुरुष जिन्हें पाने के लिए सर्वस्व त्यागी हुए हैं, उन परमाराध्य को छोड़कर, हेय पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

३३

जिन्हें पाकर ऋषिगण मृत्युञ्जयी हुए हैं, जिन्हें जानकर वैज्ञानिक-आध्यात्मिक जनों ने पूर्ण शान्ति प्राप्त की है, जिनमें प्रवेश करने से महात्माओं ने जीवत्व परित्याग कर शिवत्व लाभ किया है, उन भक्तिलभ्य वरणीयदेव को छोड़कर तुच्छ पदार्थों की उपासना क्यों की जाय ?

काशीधाम
२१ मार्गशीर्ष
१३२४ बंगाब्द

२

ॐ

नारायणेषु !

यदि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की भावना सदा याद रहे और उसके अनुसार जीवन नियन्त्रित हो तो शान्ति लाभ में अधिक विलम्ब नहीं होता। ऐसी भावना जितनी अधिक दृढ़ रहेगी, जितना अधिक विचार किया जावेगा उतना ही वह क्रमशः संस्कार में परिणत होगी और वह संस्कार क्रमशः दृढ़ होता जायेगा। किन्तु जिस ईश्वरीय प्रेरणा से यह जगत नियन्त्रित हो रहा हैं उसकी ही प्रेरणा से हम लोग अनेक बार ज्ञात विषयों को या जानी हुई बातों को भी भूल जाते हैं। यही कारण है कि ब्रह्मदर्शन भावना को सर्वदा स्मरण रखना सबके लिये सम्भव नहीं, जिस ऐसी ईश्वरीय शक्ति का ऊपर निर्देश किया है उसे भगवदिच्छा कहो, श्रीमतीराधिका कहो या इच्छानुसार माया अथवा और किसी नाम से पुकार लो, चाहे किसी भी नाम से पुकारो वही जगत का कारण है, वही सब कारणों का कारण है और जगत चक्र चलाने का हेतु हैं।

उससे ही जगत नियन्त्रित होता है, उससे ही तुम-हम परिचालित होते हैं, उससे चेतन जड़, भाव एवं कर्म तथा स्थूल-सूक्ष्म सभी नियन्त्रित हो रहे हैं। केवल यही नहीं, सभी कुछ उस शक्ति का ही विकास है, सभी कुछ उस शक्ति

का ही प्रकाश हैं, सभी कुछ उस शक्ति से ही प्रकाशित है। सब उस शक्ति के अन्दर विद्यमान हैं, वह शक्ति ही सबके अन्दर विद्यमान है, और वह शक्ति ही यह सब कुछ है। शुभ-अशुभ, बन्धन-मुक्ति सभी कुछ उसकी मायिक सीमा के अन्दर है, और इस सीमा के भीतर रहने पर ही हम लोगों का इतना कार्य–कलाप, इतना भ्रम और भ्रमण है इस सीमा में इतना छिपाना और चुराना, इतनी कल्पना और इतना अनुमान है। इस सीमा के अन्दर है इसीलिये इतनी अशान्ति दीनता और दुर्बलता है। इस सीमा के पार किस तरह जायेंगे ? श्रीभगवान कहते हैं "मम् माया दुरत्यया" फिर हम दुर्बल मानव किस प्रकार पार जा सकेंगे ? क्या हम लोगों के लिये कोई उपाय नहीं है ? अवश्य है, सुनिये भगवान कहते हैं "मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्ति ते" किन्तु उन्हें पायें किस तरह ? चञ्चल, उद्विग्न मत होना, वह स्वयं ही मार्ग दिखला देते हैं—"पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।" अनन्य भक्ति कैसे मिलेगी ? जिन्हे न कभी देखा, न सुना, न जाना, उनसे किस प्रकार प्रेम करेंगे ? उन्हें सम्पूर्ण मन किस प्रकार अर्पण करेंगे ? उपाय है, "सङ्गात्संजायते कामः" उनका संग करते हुए ही उनके प्रति अनुरक्त हो सकेंगे। किस तरह उनका संग करेंगे ? नाना प्रकार से, बहुत प्रकार से, जिस समय जैसे सम्भव हो। सुनिये, वह स्वयं कहते हैं "कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः नमस्यन्तश्च मां बोधयन्तः परस्परम्" "कथयन्तश्च माम" कभी नाम जप, कभी रूपचिन्तन, कभी गुणों की चर्चा, कभी लीलास्मरण कभी बाह्य और मानसिक-पूजा, कभी संगीत तथा प्रार्थना, कभी स्वरूप-चिन्तन, ऐसे भिन्न-भिन्न सयय में नाना प्रकार से उनमें ही मन लगाने की चेष्टा करनी होगी। प्रयत्न

करते हुए चेष्टा सफल होती है। भय का कोई कारण नहीं "न मे भक्तः प्रणश्यति" मेरा भक्त विनष्ट नहीं होता। सन्देह का भी कारण नहीं, "मामेकं शरणं व्रज्" । निराश न होना, सुनिये उनकी वाणी "मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" जितना अधिक आगे बढ़ोगे लक्ष्य उतना ही अधिक समीप आयेगा। जितना प्रमाद व असावधानी होगी उतना ही विलम्ब होगा। साधारण मनुष्य ठोकर खाकर भी सीखना नहीं चाहता, परन्तु बुद्धिमान लोग देखकर ही सीख लेते हैं आज इतना ही।

शिवमस्तु। इति।

वृन्दावन धाम
७-४-१९२०

३

ॐ

नारायणेषु !

तुम ही सब कुछ हो, तुम ही सब कुछ कर रहे हो, इस धारणा की ओर बहुत ध्यान देना। जितना अधिक समय सम्भव हो इस बात को स्मरण रखने का यत्न करना और इसी भाव के आश्रय से प्रत्येक कार्य करने की चेष्टा करनी चाहिये।

शुभ-अशुभ, शत्रु-मित्र, अपना-पराया, पण्डित-मूर्ख, दाता-कृपण, पापी-पुण्यात्मा, छोटा-बड़ा, जड़ व चेतन, शरीर-मन, सुधा-तृष्णा, भाव-प्रकृति ये सब वही हैं और उनके हैं। वे ही प्रत्येक शरीर में बोलते हैं, सुनते हैं तथा कार्य करते हैं। फिर भेद भाव की सम्भावना कहाँ ? समालोचना का अवकाश कहाँ है ? घृणा, निन्दा, भय का अवसर कहाँ है ? सब शरीर ही उनके हैं। यह शरीर (अपना शरीर) जैसा उनका है, दूसरे सब शरीर भी वैसे ही उनके हैं। वही सब शरीरों 'में, मैं" करते हैं। वही सब शरीरों में चिन्तन करते हैं सब "मैं" की समष्टि भी वही हैं।

यदि इस शरीर से शुभ-कर्म होता है तो दूसरों से प्रशंसा पाने की आशा क्यों ? जब कोटि-कोटि शरीरों के लिये कुछ भी चिन्ता नहीं करते हैं, तो दो चार शरीरों के लिये चिन्ता क्यों की जाय ? इस शरीर को दूसरे शरीरों से विशेषता क्यों दी जाये ? अपने लड़के को जिस भाव से देखता हूँ दूसरे के लड़के को उसी भाव से क्यों न देखूं ? गीता कहती है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया॥"

जबकि सब कुछ वे ही करते हैं, तो फिर अहं-कार को स्थान कहाँ ? उनकी जैसी इच्छा है वैसे ही सब शरीरों में खेल रहे हैं "कठपुतली खेल के खिलौने हम-नाचें खिलाड़ी नचावे ज्यों" मैं जब किसी भी प्रकार से कर्त्ता नहीं हूं-ये ही कर्त्ता है, कर्म भी उनका है और फल भी उनका ही है। यदि यह भावना अच्छी न लगे तो 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इस भाव का अवलम्बन करके सब कर्म करना अच्छा है।

यद्यपि इसमें 'अहं' है, किन्तु प्रेरक वे ही हैं। यह भी सम्भव न हो तो 'हे भगवन्! तुम्हारी प्रीति के लिये कर्म कर रहा हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ, कृपा करो'—इस प्रकार भाव लेकर कर्म करो। चाहे किसी भी भाव का अवलम्बन करें, कुछ परिणाम के अनन्तर वह भाव दृढ़ हो जायेगा। और अभाव बोध मिट जायेगा, हृदय शान्ति लाभ करेगा। इसलिये मैं कहता हूँ अपनी रुचि के अनुसार ऊपर उल्लेख किये हुये किसी भी भाव का अवलम्बन करके सब समय प्रयत्न करें। जब कभी किसी विषय की स्मृति जागृत हो, चित्त-विक्षेप की सम्भावना हो रजोगुण जागृत हो रहा हो, उसी समय उस भाव की सहायता से मन को शान्त करना चाहिये, और अन्य समय में भी आलोचना करके उस भाव को दृढ़ करता रहे। कभी-कभी भाव को स्मरण करने मात्र से ही चिन्तन नहीं होता। उसे सत्य मानकर धारणा करनी होगी। और उससे अनुमान करके व्यवहारिक जीवन क्षेत्र में प्रयोग करने का सदैव प्रयत्न करना होगा। इसके लिये चिन्तन और विचार जितना आवश्यक है, धैर्य और अध्यवसाय की भी उतनी ही आवश्यकता है। मन ऐसी सीधी वस्तु नहीं कि बिना परिश्रम ही उसे वश में किया जा सके। इसे वशीभूत करने के लिये वीरत्व चाहिये। बार-बार वैराग्य का अभ्यास करता हुआ संसारी मन सजग होता है। किन्तु यह सब एक दिन का काम नहीं।

श्री श्री रामकृष्ण-कथामृत में पढ़ा कि श्रीमत् तोतापुरी जी ने चालीस वर्षों के निरन्तर प्रयत्न से निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त किया। पूज्यपाद गोस्वामी महाशय को भी कितना कष्ट सहना पड़ा था। यदि अनायास यह कार्य सम्पन्न हो सकता

तो इसका महत्व न रह पाता। इसलिये उत्साह तथा उद्यम के साथ कार्य में लगे रहिये। माँ का नाम लेते रहिये और भरसक यत्न कीजिये। आज इति।

स्वर्गाश्रम
द्वादशी २७-७-१९१६

४

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। प्राणपन से तपस्या करते रहो। नाम जप करते रहो। गुण गान करते रहो। जप और ध्यान के साथ रात दिन तपस्या करते रहो। सदा भगवान का आश्रय लिये रहो। भगवान ही भोजन, भगवान ही निद्रा, भगवान ही सुख, भगवान ही दुःख, भगवान ही अपने भगवान ही पराये हैं। भगवान जगत्मय हैं और जगत हो भगवान-मय है।

बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दूर समीप, सर्वत्र वही हैं। उनके सिवाय और है कौन ? उनके अतिरिक्त कर्ता और है कौन? उनके अतिरिक्त और किसका अवलम्बन करोगे? जिसने भगवान में आत्म समर्पण किया—उसे और क्या चिन्ता

है ? क्या भय हैं और उसे और क्या दुःख ? गोद में उठाये हुए बालक का सारा भार माता पर ही होता है। और बालक तो निश्चिन्त मन से गोद में सानन्द मन से काल व्यतीत करता है। अपने विषय में वह किंचिन्मात्र भी विचार नहीं करता।

तुम रात-दिन भगवान का स्मरण करते रहो। वह तुम्हें जैसा चाहें रखें। भगवान भक्ति के आधीन हैं। और नाम की शक्ति से उन्हें वश में किया जा सकता है। वह इस देह में विराजमान हैं। और इसमें ही विविध लीला किया करते हैं। वही इन शरीरों में प्रेम का खेल खेल रहे हैं। सर्वदा उन्हें देखो, उनका स्मरण करो, और उनमें ही मग्न रहो।

शिवमस्तु। इति।

कलकत्ता
९ भाद्र १३२७ बंगाब्द

५

ॐ

श्रद्धास्पदेषु !

वास्तव में बात यह है कि जो सनातनी महा-शक्ति सर्वदा सर्वत्र विराज रही है, वे ही अपनी इच्छा शक्ति के प्रभाव से विश्वमूर्ति धारण करके लीला के बहाने ज्ञान और अज्ञान, सुख और दुःख, अच्छा और बुरा, प्रवृति और निवृति तथा बन्धन और मोक्ष का अभिनय कर रही है।

हम में से प्रत्येक ही उस अनन्त महासागर का एक बिन्दु मात्र है। उनमें ही सब रहते हैं, प्रत्येक के अन्दर वे ही हैं। फिर प्रत्येक अणु और परमाणु भी तो वे ही हैं। वही महाशक्ति सब शरीरों में, "मैं" "मैं" करती है तथा "मैं" बनकर अपने को ही पुनः नाना प्रकार से "तुम" "तुम" कहती हैं। वही संसारी और वही वैरागी हैं। वही प्रवृत्ति और निवृत्ति में से चलती हुई अपनी उपलब्धि करती है। वही मानो इस तत्व को भुलाकर अहंकारी जीवरूप से कार्य करती है और वही आगे चलकर मानो ज्ञान को प्राप्त करके महासागर में विलीन हो जाती है। मुक्ति पथ में उन्नत मानव जब समझने लगता है कि सब ही उनकी लीला है, सब शरीर तथा प्रत्येक परमाणु उनके हाथ के यन्त्र हैं, उनके ही हाथ के पुतले मात्र हैं, तब फिर वह उन यन्त्रों की ओर ध्यान नहीं देता। यन्त्रों को मूल्यवान भी नहीं समझता और उन्हें अच्छा या बुरा मानकर उनकी निन्दा या प्रशंसा भी नहीं करता। तब तो वह शक्ति जो सब यन्त्रों की यन्त्री है, जो शक्ति इच्छा करने पर यन्त्र की सहायता के अतिरिक्त भी हम पर कृपा कर सकती है, जो शक्ति हमें एवं विश्व ब्रह्माण्ड को परिचालित करती हैं, उसके निकट होने पर केवल उसके आगे ही सर्वदा भक्ति से गद्‌गद् होकर प्रणाम करते रहने पर उसका अभिमान विगलित होता है, वासना-कामना मिट जाती है और दुर्दिन का अन्त हो जाता हैं। तब वह केवल पुकारता है, "तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण होती है और तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण हो।"

६

ॐ

नारायणेषु !

सार्थक उसका जन्म, सफल उसका कर्म और धन्य उसका जीवन, जो ठीक-ठीक कह सकता है, "हे करुणामय स्वामिन ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।" जिसके सरल हृदय के अन्तस्तल भेदन करती हुई यह महती वाणी—यह महामन्त्र विनिर्गत होता है, उसके साधन संग्राम की समाप्ति में अधिक विलम्ब नहीं है, उसकी विजय पताका शीघ्र ही शान्ति शैल के शिखर पर लहरायेगी।

किन्तु इस महिमामय महामन्त्र के मन प्राण से उच्चारण करने का अधिकार किन को है एवं इसे सर्वदा स्मरण रखने की योग्यता भी किन में है ? इस प्रश्न के समाधान के लिये जब महापुरुषों के चरणों में पहुँचता हूँ, तब ही उत्तर मिलता है—"राग द्वेष वियुक्तानां यतीनां यत् चेतसाम्" वास्तव में राग और द्वेष से छुटकारा न मिलने पर इस मन्त्र को ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। जिसका हृदय राग द्वेष से भरा है वह क्योंकर भगवदिच्छा का प्रीति से वरण करेगा। जिसका कुछ त्याज्य और कुछ ग्राह्य हैं वह किस प्रकार आत्म समर्पण करेगा ? वासनामय क्षुद्र सीमा के अन्दर अपने को

आवद्ध रखने की ही निरन्तर चेष्टा जिसकी है। वह कैसे विश्व मानस में अपने अहम् की आहुति देगा।

ये जो राग और द्वेष, ये जो चाहना और न चाहना, ये जो attraction (आकर्षण) एवं refulsion (विकर्षण) हैं—ये ही नाना भावों में, नाना वेषों में संसार-नाट्यशाला में अभिनय कर रहे हैं। संसार क्षेत्र इन्ही राग-द्वेषों की ही विकास भूमि है। प्राणियों के अन्तःकरण में जितनी भी प्रवृतियाँ लीला करती हैं, उनमें कुछ राग का ही नामान्तर हैं और कुछ द्वेष का रूपान्तर, और कुछ इन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हैं। Hydrogen एवं Oxygen भिन्न-भिन्न रीति से मिलकर जैसे H_2O एवं H_2O_2 की सृष्टि करते हैं; और किसी के मतानुसार जैसे केवल Hydrogen ही under different conditions of temprature and pressure .... भिन्न-भिन्न प्रकार के ताप और चाप में आकर समस्त पदार्थों का मूल कारण बनता है। ऐसे ही राग और द्वेष ये दोनों मूल पदार्थों से ही विभिन्न मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्मिलित होकर समस्त यौगिक प्रवृतियों को उत्पन्न किया है। जो भी भावना अथवा जो भी प्रवृति है वह या तो राग होगा अथवा द्वेष होगा या इन दोनों का समिश्रण। जिस किसी भी भावना या प्रवृति को राग द्वेष से पृथक कर दोगे वह सूत्र हीन वस्त्र खण्ड की नाईं विलीन हो जायेगी। चाहे राग द्वेष को दो स्वतन्त्र पदार्थ कहो अथवा एक की ही विभिन्न अवस्था कहो उससे कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। इन दोनों को चाहे जिस भाव से देखो, चाहे जिस नाम से पुकारो, किन्तु इन से ही सब प्रवृतियाँ पैदा होती हैं। और इन से ही सब कर्मों का प्रसार होता है। माया-ममता, दया-दाक्षिण्य, काम प्रेम, क्रोध-घृणा,

ईर्षा-हिंसा, निन्दा स्तुति, दान कार्पण्य, चोरी-हत्या, वाग-वितण्डा, उदारता-संकीर्णता, कृतज्ञता, आत्म त्याग- परपीड़न प्रभृति जितनी भावनायें और कर्म हैं—इन सब में राग और द्वेष का ही प्रभाव वर्तमान है। वृक्ष की छाया में निवास करने वाले निरन्तर प्रयत्नशील साधक की तपस्या से लेकर निकृष्टतम पशुचेष्टा तक सबके प्रवर्तक राग और द्वेष ही हैं।

एक बात और भी है हम जिसे अच्छा बुरा कहते हैं, वह क्या राग द्वेष से भिन्न है? हम लोगों के जो आवश्यक-अनावश्यक विचार हैं, हमारी जो लाभ हानि की धारणा हैं क्या उनके मूल में राग-द्वेष ही विद्यमान नहीं है? जिन सुविधा-असुविधाओं का विचार हम लोगों को सम्पूर्ण कार्य मात्र में प्रवृत्त कराने का कारण है; क्या वह राग-द्वेष से पृथक् है? जिस संकल्प-कल्पना से हमारा मन रात-दिन चलायमान रहता है क्या उसका कारण भी यही राग-द्वेष नहीं है?

इस राग-द्वेष को छोड़ने पर मन की क्या अवस्था होती है? जीवन-नदी प्रवाह किस दिशा में प्रवाहित होता है? यह विचार करो। सम्भवतः तुम कहोगे कि रागद्वेष शून्य जीवन यद्यपि सम्भव हो तो वह पत्थर की भांति निकृष्ट-तम है। इस जीवन को पत्थर की भांति तो चाहे कह लो, किन्तु निकृष्ट अवश्य नहीं है। एक बात कहता हूँ सुषुप्ति काल के जीवन को राग-द्वेष वियुक्त नहीं कहा जा सकता। उस समय राग द्वेष का प्रकाश रहता तो नहीं, किन्त वह राग-द्वेष

गुप्त रूप से रहते हैं अवश्य तथा भविष्य में आत्म-प्रकाश करते हैं। जब राग-द्वेष चिरकाल के लिये विदा ले लेते हैं और पुनः उनके जागृत होने की सम्भावना नहीं रहती, तब ही राग-द्वेष सदा के लिये दूर हुआ कहा जा सकता है। इस अवस्था में यद्यपि प्रस्तर की भाति स्थिरत्व तो अवश्य रहता है किन्तु जड़त्व नहीं रहता। ऐसी अवस्था में केवल चैतन्य ही चैतन्य है और केवल शान्ति है। यही श्रेष्ठतम स्थिति है, यही लक्ष्य है और यही प्राप्तव्य है।

किस प्रकार राग-द्वेष से मुक्त होना है, चित्त-शक्ति के चरणों में राग द्वेष की बलि प्रदान करो। सदैव चैतन्य देवी के ध्यान में मग्न रहो। जब कभी राग-द्वेष के अस्तित्व का अनुभव करो, तभी उस मन्दिर के सामने उनका संहार कर दो। इस प्रकार राग-द्वेष को—काम-क्रोध को—बकरा और भैंसा जैसे मानकर चैतन्य रूपिणी महाशक्ति के द्वार पर बलि-दान देकर उसकी उपासना करते-करते ही साधक सिद्ध हो जाता है। यही तुम्हारी शक्ति पूजा है। यही तुम्हारा दुर्गोत्सव है। इस भाँति पूजा करते हुये जब तुम्हारे पाप क्षीण हो जायेंगे तभी ध्रुवा-स्मृति लाभ करोगे। इस ध्रुवा-स्मृति को ही श्री-रामानुजाचार्य के मतानुसार श्रेष्ठतमा भक्ति कहा है। साधक ने भी गाया है "भक्त होने के लिये पहिले शाक्त बनना पड़ेगा"।

यह तो शाक्त होने की बात कही गई है, यही गीता में "अभ्यासेन वैराग्येन" शब्दों में कही गई है। और योग वाशिष्ठ में यही बात "तत्वज्ञान, वासना-क्षय, और मनोनाश शब्दों से प्रतिपादित की गई है। यही योग वाशिष्ठ का सार तत्व है। यही एक बात नाना छन्दों में, नाना प्रकार

से भिन्न-भिन्न अध्यायों में लिखी गई है। यदि इस एक वाक्य का ही आचरण करना चाहो तो ठीक-ठीक योग वाशिष्ठ का अध्ययन करना होगा। नहीं तो बाजार गये बिना दिन भर वस्तुओं की नामावली कण्ठस्थ करते रहने पर वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होगी।

आज और अधिक कुछ नहीं लिखूंगा इस राग-द्वेष रूपी रक्त बीज को पकड़ने तथा उसके निर्मूल विनाश करने का निरन्तर उद्योग करते रहो। सावधान रहना कि यहाँ थोड़ा सा भी शेष न रह जाये। योग वाशिष्ठ कहता है "रोग, अग्नि और आसक्ति को शेष नहीं रखना चाहिये"। अपने को बलवान मानकर कभी अभिमान न करना चाहिये। और न शत्रु को क्षुद्र समझ कर उसकी उपेक्षा ही करनी चाहिये। कर्म करते रहो! हताश न होना। जब प्रबल इच्छा हो योग वाशिष्ठ का पाठ करना, अन्य समय नहीं।

शिवमस्तु। इति।

राधाबाग श्रीवृन्दावन धाम
६-४-१९२०

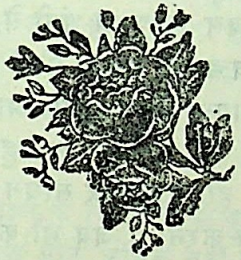

७

ॐ

नारायणेषु !

रागद्वेष नष्ट करने के लिये शास्त्र ने ध्यान की व्यवस्था की है। ध्यान जितना प्रगाढ़ होगा, जितने अधिक समय तक स्थिर रहेगा उतना ही रागद्वेष का उपद्रव कम होता जायेगा, किन्तु तुम लोगों के लिये केवल ध्यान से ही काम न चलेगा। ध्यान के साथ विचार भी आवश्यक हैं। मैं क्या हूँ ? विषय क्या है ? विषय के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है ? मेरा कर्त्तव्य क्या है ? यह सब चिन्तन करना होगा।

जब कभी रागद्वेष उपस्थित हो, अथवा राग द्वेष जन्य कोई कल्पना, चिन्ता या प्रवृत्ति जाग्रत हो उसी समय उपरोक्त प्रकार के विचारों से मन को शान्त और स्वस्थ रखने की चेष्टा करनी चाहिये। किसी-किसी समय तो विचार की सहायता बिना भी केवल मात्र भ्रू-भंगी से, केवल एक हुँकार से भी तत्क्षण उठी चञ्चलता नष्ट होती देखी गई है। उस समय विचार की सहायता लेने को भी आवश्यकता न पड़ेगी। साधारणतया विचार की आवश्यकता बहुत अधिक है। ध्यान और विचार के साथ ही एक और साधन को भी आवश्यकता है; वह है दृश्य-वर्जन करना। जब भी कोई विषय हम लोगों के इन्द्रिय-गोचर होता है तभी संस्कार और अभ्यासवश मन

चञ्चल हो उठता है। सुप्त-वृतियां जाग जाती है। इसलिये जब तक मन का शान्तभाव प्रतिष्ठित नहीं होता। तब तक निरर्थक विषय संग का वर्जन अवश्य करना होगा। जिसे देखे बिना कार्य हो सकता है उसे मत देखो। जिसे बिना सुने निभ सकता है—उसे मत सुनो। जो बिना किये हो सके—उसे न करो; जिसे बिना सोचे ही काम चले-उसे मत सोचो। तात्पर्य यह कि जहाँ तक सम्भव हो जगत को भूलने की चेष्ठा करनी पड़ेगी। केवल वर्त्तमान दृश्य-जगत को भूलने से ही कार्य सम्पन्न नहीं होगा। अतीत जगत को—स्मृतिमय जगत को भी भूलना होगा। अमुक समय में अमुक कर्म किया था अमुक स्थान में अमुक व्यापार हुआ था—इत्यादि भावनाओं का भी त्याग करना होगा। और उसके साथ-साथ भविष्य के कल्पना-मय जगत को भी मन से निकाल देना होगा। ऐसा न करके केवल मुँह से ही समय-समय पर "जगत मिथ्या है।" रहने से अधिक लाभ की आशा नहीं। जो मन विषयों की ओर दौड़ता हो, उसे भगवत्-चिन्तन का अवसर ही कहाँ? और वहाँ उसका अधिकार भी क्या? अतएव मन को स्थिर रखने के लिए ध्यान विचार और दृश्य वर्जन–इन तीनों का ही अनुष्ठान अत्यावश्यक है। इस प्रकार से मन बहुत शान्त हो जायेगा। मन में सत्व-वृत्ति का उदय होगा और क्रमशः उसमें स्थिरता आ जायेगी। उस वृत्ति के विलय होने पर जो कुछ होगा वह अनुभव से ही जाना जा सकता है।

मनोनाश के विषय में भी कुछ लिखने की इच्छा हो रही थी, किन्तु आज और अधिक नहीं लिख सकूंगा। यदि

सम्भव हुआ तो भविष्य में देखा जायेगा। आज इतना ही। एक श्लोक स्मरण हो आया—

उत्साहात् साहसाद् धैर्यात् तत्व ज्ञानाच्चस्मरणात्।
जन-संग परित्यागात् षड्भिर्योगः प्रजायते॥

शिवमस्तु इति।

देवास

८

ॐ

निरापत्सु !

लोग कहते हैं "घृणा, लज्जा, भय, इन तीनों के रहते सफलता नहीं होती, किन्तु मनुष्यों में घृणा और लज्जा है—सो तो प्रतीत होता नहीं। तुमने कलकत्ता की सड़कों के किनारे कितनी माँस की दुकानें देखी हैं। कदाचित् यदि एक टुकड़ा माँस तुम्हारे कपड़ों में लग जाये तो क्रोध से लाल-पीले हो जाओगे। यदि कहूँ 'एक बार माँस के ढेर में लोट-पोट लगाओ तो सही" तो मुझे पागल समझने लगोगे अथवा अपने

को अपमानित समझकर बदला लेने पर डट जाओगे। यह है हम सबका हाल! अच्छा अब एक प्रश्न है, उस साफ ताजे मांस से इतना विद्वेष क्यों? इतने दीर्घकाल से जो एक बासी मांस पिण्ड के अन्दर दिन रात सो रहे हो, उससे घृणा क्यों नहीं होती? यह शरीर भी क्या केवल एक माँस पिण्ड मात्र नहीं है? मेदा, मांस, अस्थि, मज्जा, रक्त पीव, कफ, पित्त मल-मूत्र तथा और भी कितना कुछ! इसे रातदिन स्वच्छ रखने का जितना भी प्रयत्न करते हो, चिरकाल से अपवित्र यह नाली मानों और भी अपवित्र होने के लिये तत्पर रहती है। क्या केवल इतना ही? आज ज्वर, कल यक्ष्मा, परसों कोढ़ इससे अगले दिन चेचक—इस प्रकार आनन्दघन बान्धवों की अयाचित करुणा का भी तो अभाव नहीं है।

मनुष्य विष्टा के कीड़े को देखकर नाक सिकोड़ते हैं, किन्तु विचार कर देखते नहीं कि वह स्वयं किस प्रकार की अनन्त शय्या पर सोये पड़े हैं। पुराणादि में नरकों के कितने विवरण तुमने पढ़े हैं, किन्तु इस देह नरक से अधिक निकृष्ट नरक का वर्णन कहीं तुम्हें मिला है, इस नरक में सदासे बिल-बिला रहे हो, फिर भी कितने प्रकार से हम लोगों की बुद्धि, शक्ति, सुख-स्वच्छन्दता का गौरव तथा स्पर्धा कर रही है। यद्यपि हम कह सकते हैं कि दुःख, वेदना, क्लेश और दैन्य यह सब इस शरीर से मिलते हैं; तथापि किंचिन्मात्र भी यह इच्छा नहीं होती कि इस नरक कुण्ड से बाहर निकल जायें। तुम लोग निरामिष भोजी (मांस न खाने वाले) हों। बाजार में बिकने वाले पशु-पक्षियों के मांस का मुँह से स्पर्श नहीं करा सकते; पीव, रक्त मिले हुए इस मांस के खोल में निरन्तर वास करने पर भी तुम्हें वमन क्यों नहीं होता? आज-कल बहुत

लोग अविवाहित रहना पसन्द करते हैं; इससे वह विवाहिता स्त्री के पति हो जायेगें, किन्तु अब भी तो देह की सहधर्मिणी बने हुये हो। राजाधिराज विश्वविधाता की सन्तान होते हुए भी एक भिखारी के गले में वरमाला डाले हुये हो। नित्य शुद्ध, निरंजन आनन्द स्वरूप होकर भी स्वभाव शीर्ण, अनित्य, कुरुप दुःखमय शरीर को ही सहधर्मिणी बनाकर खुश हो रहे हो। विशालकाय अजगर होकर भी किस तरह से अपने शरीर को एक छोटी सी पिटारी में छिपाकर प्रसन्नमन हो रहे हो। यदि पूछूं "आज क्या किया" तो तुरन्त उत्तर दोगे अमुक पुस्तक पढ़ी, अमुक की समालोचना की" इत्यादि। किन्तु एक बार विचार करके कहो तो इसमें कौन सा कर्म तुम्हारा है ? देह के कर्म को अपना कर्म मानकर, देह में अहंता-ममता रूप भ्रांति से समाच्छन्न होकर कर्म-जाल में बद्ध हो रहे हो। किन्तु यह मत सोचना कि देह पाश से छूटने के लिये तुम्हें फाँसी लगाकर आत्महत्या करने के लिये कह रहा हूँ। गुरुजी का खून कर देने पर भी प्राइमरी पाठशाला मैं जाना बन्द नहीं होगा। एक और गुरुजी रूप के उस स्थान पर आ जायेंगे; एक शरीर जायेगा तो दूसरा देह आयेगा। देह बन्धन से चिरमुक्ति के लिये देह पर से ममता का त्याग करना होगा। यही धर्म जगत का देह त्यागना है।

और एक प्रकार से विचार करूँगा। जिसने सर्वस्व भगवान को अर्पण कर दिया, वह यदि देह को अपना मानकर व्यवहार करे तो क्या उसे चोर कहना असंगत होगा? तुमने एक पुतला बनाया, उसकी रक्षा भी तुम ही करते हो, उसकी चिंता किसी दूसरे को नहीं करनी पड़ती। जिसने सब शरीरों को

सृष्टि की है उस विश्वकर्त्ता के रहते हुए हम तुम क्यों चिन्ता करें ? जो माता से भी अधिक ममता दिखाती है उसका नाम राक्षसी ममता है।

एक कहानी सुनो, पिछले वर्ष श्री बद्रीनाथ-केदारनाथ यात्रा पर मार्ग में पूज्यपाद श्रीविवेकानन्दजी के भ्राता श्रीयुत महेन्द्रबाबू ने लक्ष्मण झूले में कई दिन निवास किया। उस समय उन्होंने श्रीमान गिरधारी प्रभृति से यह कथा कही थी। जब यहाँ लोहे का पुल नहीं बना था, पुरानी रस्सियों का ही लक्ष्मण झूला था। दो आदमी झूला पार कर रहे थे। आगे खाली हाथ वह स्वामी भी थे, और उनके पीछे सिर पर बोझ उठाये एक बूढ़ी पंजाबिन थी। स्वामीजी ने झूले से पार होकर भूमि पर पैर रखा ही था उसी समय अचानक एक शब्द हुआ, पीछे मुड़कर उन्होंने देखा कि झूला टूट गया है। प्रेमार्द्र-हृदय स्वामीजी ने महिला को लक्ष्य करके कहा, "आह ! बूढ़ी माई, आप तो मर गईं।" वृद्धा की आँखें ज्योतिमय हो उठी "मरण का क्या डर, स्वामी जी।" कहते-कहते हृदय में अदम्य तेज व शान्ति तथा मुख पर अलौकिक प्रसन्नता लिये वह गंगा में ही विलीन हो गई। क्षणभर में ही यह सब हो गया। उस दिन उस अशिक्षित कुसंस्काराच्छन्ना जीर्ण देह वाली उस वृद्धा भारत ललना से विश्व विख्यात श्री-विवेकानन्दजी ने शिक्षा पाई, जिसे चिरसाधना के अनन्तर भी बहुत लोग नहीं पा सकते।

तुम सावित्री-सत्यवान की कथा जानते हो। मनुष्य जब सत्य-स्वरूप अवर्णनीय भगवान का आश्रय लेकर रहना चाहता है, तब उस "सत्यवान" (साधक) के पास

"सावित्री" अर्थात् ब्रह्म-विद्या गायत्री उपस्थित होकर उसे पतिरूप में वरण कर लेती है। सावित्री लाभ के पश्चात् ही शीघ्र सत्यवान देह त्यागकर देह में आत्मबुद्धि का परित्याग कर अमरत्व-आध्यात्मिक अमरत्व-अविनाशी नित्यानन्द स्वरूप ब्रह्मत्व लाभ करते हैं। किस प्रकार से? सर्वान्तर्यामी रूप "यत्र" के वर से—प्रेममय के करुणा बल से।

फिर भी कहता हूँ कि देह निकृष्ट नहीं है। देह में आत्म बुद्धि ही अनुचित एवं हेय है। जब देह में आत्म-बुद्धि का लोप हो जायेगा तब लैम्प की चिमनी की नाईं अन्तर्निहित ज्ञानलोक को चारों ओर के मनुष्यों में फैलाकर उनके अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देगा। उस शरीर से किसी की भी हानि नहीं होती अपितु जगत उससे उन्नति लाभ ही करता है। किन्तु जो आँखें मूंद कर रहता है, सब दिशाओं में समानरूप से फैले हुए उस प्रकाश से भी वह लाभ नहीं उठा सकता।

किसी के मन में यह विचार उठ सकता है कि देह में ममता विशेष है नहीं, और मृत्यु से भी नहीं डरता हूँ, किन्तु कष्ट सहन नहीं किया जाता। इस भावना में कुछ भी सार नहीं। लोग मृत्यु से क्यों डरते हैं? क्योंकि वह सब से अधिक दुःखजनक है। दुःख का दुःखत्व कब तक है? जब तक उसे दुःखरूप मानता हूँ। जब किसी को सुखरूप से विचारता हूं तो वह सुख जान पड़ता है और जब किसी को दुःख रूप से मानने लगता हूँ तो वह दुःख हो जाता है। किसी विषय में तो दुःख प्रतीत नहीं होता। यदि वह विषय में दुःख होता जो मुझे दुःख देता है वही दूसरे को सुख क्यों देता। जिसको साधारण-

तया दुःख-जनक समझते हो जैसे उपवास, अपमान, पैर में कण्टक भेदन आदि—एक दिन उनमें से एक को लेकर देखो, उसका कौन सा अंश वस्तुतः दुःखमय है विचार करो। और उसके साथ सहन करने का निश्चय करो "कि क्या यह भी कष्ट है. क्या मैं इतना भी सहन नहीं कर सकता ? यह और कितने क्षण रहेगा ? व्याकुल होने से काम न चलेगा। इस प्रकार भावना करते रहना। मालूम होगा दुःख उस दिन परास्त होकर भाग गया। हम लोग सुख और दुःख के दास बन गये; इस लिये बड़े-बड़े दुःख दो चार दिन में तो अवश्य ही नहीं मिट सकते। किन्तु इस प्रकार से अभ्यास संकल्प और विचार करते हुए ज्ञान-भक्ति की वृद्धि के साथ-साथ दुःख बोध भी परिणाम में कम हो जायेगा।

जब तक देह नौका को भगवान के पाद पद्मों में सम्पूर्ण रूप से अर्पण नहीं कर सकते, तब तक देह में अभिमान को त्याग भी नहीं सकते। संसार-समुद्र से पार होने के लिये यही विशेष नौका है। केवल उतनी ही ममता-बोध रखो जितनी देह रक्षा के लिये कम से कम अत्यावश्यक हो। केवल इतनी ही कर्म चेष्टा करनी चाहिये।

स्वर्गाश्रम
१-३-१९१४

६

ॐ

निरापत्सु !

प्राचीन काल में ग्रीस देश में अटलान्टा नाम का एक व्यक्ति हुआ था। उस समय दौड़ में उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं था। जो कोई भी बाजी लगाकर उसके साथ दौड़ता, वह अवश्य ही हार जाता था। प्रख्यात अटलान्टा को परास्त और अपमानित करने की प्रबल इच्छा से किसी एक युवक ने रावण की नाईं कठोर तपस्या आरम्भ की—तपस्या से सन्तुष्ट होकर आराध्य देवता उसके सामने प्रकट हुये और वर मांगने के लिये कहा। युवक ने कहा "अटलान्टा को दौड़ में पराजित करूँ" यही मेरी प्रार्थना है। देवता ने कहा "तुम असम्भव प्रार्थना कर रहे हो, विधाता के आशीर्वाद से अटलान्टा दौड़ में अजेय है। तथापि तुम्हें एक उपाय बतला देता हूँ, उसके अनुसार कार्य करने से तुम जीत सकोगे।" देवता से उपदेश प्राप्त करके युवक ने अटलान्टा को दौड़ में आह्वान किया। अटलान्टा भी सहमत हो गया। दौड़ के लिये दिन और स्थान भी नियत हो गये। युवक ने गुप्त रूप से कुछ स्वर्ण की ईंटे दौड़ने की सड़क पर बीच-बीच में रख दीं। नियत समय पर दौड़ आरम्भ हुई। दो-चार मिनट में ही अटलान्टा युवक को बहुत पीछे छोड़कर आगे बढ़ गया। वह ज्यों ही थोड़ा विश्राम

लेने की इच्छा से खड़ा–स्वर्ण की एक ईंट उसके दृष्टिगोचर हुई। कांचन का लोभ वह न रोक सका, अतः ईंटें लेकर चलने लगा। अपनी शक्ति के घमंड में मतवाला तथा युवक की शक्ति में तुच्छ बुद्धि होने के कारण उसने लक्ष्य स्थान पर शीघ्र पहुँचने की आवश्यकता नहीं समझी। सोचा कि युवक मुझे पीछे छोड़-कर दो एक मील आगे बढ़ जायेगा तो भी मैं निश्चय ही उससे पहले गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर पुरस्कार जीत लूंगा। इतने में युवक ने आकर उसे पकड़ लिया और वह दौड़ता हुआ थोड़ा आगे भी बढ़ गया। वह भी थोड़ी देर दौड़कर युवक को पीछे छोड़कर आगे बढ़ा; पुनः ईंटें संग्रह करने में ध्यान रखकर धीरे-धीरे चलने लगा। थोड़ी देर इस प्रकार चलते हुये अट-लान्टा की संगृहीत ईंटे इतनी भारी हो गईं कि उन सबको साथ लेकर दौड़ना भी उसके लिये कठिन हो गया। किन्तु उन्हें छोड़ने को भी उसका चित्त नहीं चाहता था। अन्त में बाध्य होकर वह उस भारी बोझ को सिर पर लाद कर चलने लगा। परन्तु युवक लगातार पूरी शक्ति से दौड़ता रहा। अटलान्टा पसीने से तर होकर जब लक्षित स्थान पर पहुँचा तब देखा कि युवक पहले ही वहाँ पहुंच गया है। तब युवक को बाजी जीतने के नियमानुसार पुरस्कार तो मिला ही साथ ही अटलान्टा की प्रयत्नपूर्वक इकट्ठी की हुई सारी ईंटों और सम्पूर्ण जीवन में उपार्जित सुयश का भी वह अधिकारी हुआ। अटलान्टा को क्या दशा हुई ? यश, मान, धन सब खोकर उसने अनुतापानल को ही जीवन की पूँजी बना लिया। हाय ! कितने मानव, कितने साधक इस प्रकार से विभ्रांत हो जाते हैं। भगवान ने कहा है—

"मनुष्याषां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतीत सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्यांवेति तत्वतः ।।"

महान्-शक्तिशाली विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये दक्षिणेश्वर में जाकर कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। तपस्या के बल से वह 'राजर्षि' हुये। किन्तु त्रिशंकु राजा को सशरीर स्वर्ग में भेजने की निरर्थक चेष्टा में उन्होंने सारी तपस्या का फल गँवा दिया। तत्पश्चात् पश्चिम दिशा में जाकर कठोर तपस्या की और उससे उन्हें 'ऋषि' पदवी प्राप्त हुई। किन्तु एक समय मेनका के रूप लावण्य से मोहित होने पर वह तपस्या भी निरर्थक हो गई। अनन्तर उत्तर दिशा में जाकर तपश्चर्या की, और अत्याधिक शक्ति भी प्राप्त की। उससे विश्वामित्र 'महर्षि' हुये। एक दिन उनके मनको लुभाने के लिये एक अप्सरा आई। उस समय मेनका की बात स्मरण होने से उन्होंने क्रुद्ध होकर अप्सरा को भस्मीभूत कर दिया और साथ ही सारी तपस्या निष्फल कर डाली। अन्त में इन सब अनुभवों को प्राप्त करने के पश्चात् मनःसंयम करके पूर्व की ओर जाकर तपस्या की। उनकी तपस्या पूर्ण हुई। तब ब्रह्मा और वशिष्ठ आदि ने आकर उन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहकर अभिनन्दित और सम्मानित किया।

भगवान बड़े नटखट हैं। तपस्या के समय इस प्रकार कितने बाधा पहुँचाने वाले तत्त्व भेजते हैं। किन्तु उनकी ही इच्छा से जो साधक स्थिर रह सकता है, भगवान उसके सेवक बन जाते हैं। इस प्रकार का खेल ही उन्हें प्रिय है।

अब उनके खेल की और एक कहानी सुनाता हूँ। "सेनपन्थी" नाम से एक सम्प्रदाय है। उसका प्रतिष्ठाता

कोई "सेन" है, 'सेन' उपाधि है, नाम नहीं। जाति से वह नाई था। वह राजस्थान के एक राजा का वेतन भोगी क्षौरकार था। यह व्यक्ति अत्यन्त भावुक था। भक्तों के मिलते ही वह भगवद्गुणों का गान करने में सलंग्न हो जाता था। एक दिन कुछ भक्तों के साथ बड़े उल्लास से हरिनाम कीर्तन में निमग्न था। कीर्तन करते हुये वह स्नान भोजन आदि सब ही काम भूल गया। इधर राजा के क्षौर का समय हुआ—तब और कोई उपाय न देखकर भगवान स्वयं ही नाई का वेष धारणकर राजा की हजामत कर आये। बहुत समय बीतने पर कीर्त्तन समाप्त हुआ अब उस नाई को याद आया कि राजा की हजामत तो आज की नहीं गई! तुरन्त ही वह तेजी से राजा के समीप आया, और अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा। तब सब भेद प्रकट हो गया। तभी से नाई सेन ने अपनी जाति का धन्धा छोड़ दिया। वह राजा ही उसका प्रथम और प्रधान शिष्य बना। क्रमशः उसका एक सम्प्रदाय बन गया। और और आज तक उस नाई के कुल से ही उस राजवंश में दीक्षा गुरु होते आये हैं।

स्वर्गाश्रम
३-४-१९१४

१०

ॐ

निरापत्सु !

ईसाई लोग प्रातःकाल प्रार्थना करते हैं "Give me O Lord ! my daily bread," हे प्रभो मुझे मेरी आज की रोटी दो। इसका क्या कारण है शरीर का पोषण करना और भूख का मिटाना ही क्या विश्वविधाता का सबसे श्रेष्ठ दान है ? नहीं तो कौन मूर्ख रत्नों के ढेर की उपेक्षा करके राजराजेश्वरी से मुट्ठी भर धूल के लिये प्रार्थना करेगा ? तुम लोग कह सकते हो संसार-सागर पार करने के लिये सबसे श्रेष्ठ सहायक देहरूपी नौका है अतः अवश्य ही सबसे पहले इसकी रक्षा करना उचित है। एवं उसके लिये भगवान से प्रतिदिन के भोजन की प्रार्थना करना मनुष्यों का प्रधान कर्तव्य है। किन्तु तुम लोगों की बात मान लेने के साथ-साथ यह भी समझना होगा कि केवल गरीबों के लिये ईसाई धर्म का प्रचार हुआ था, नहीं तो जो विशाल महल में रहने वाले अति धनाढ्य व्यक्ति अन्नदान से प्रतिदिन शत-शत लोगों को तृप्त करनेमें समर्थ है। वह ऐसे किस अपराधसे ग्रस्त हुये जो अपने अन्न-जल के लिये दूसरों के आश्रित होंगे। क्या भगवान यीशुमसोह के उपदेश केवल गरीबों के लिये हैं ? हाँ ऐसा ही है। गरीब कौन नहीं है ? सम्पत्ति के ऊपर तुम्हारा हमारा क्या

अधिकार है ? जिस भूमि के टुकड़े के कारण कौरव और पाण्डवों का महान युद्ध हुआ था। वह भूमि का टुकड़ा अब भी उसी प्रकार विद्यमान है। किन्तु मोहग्रस्त वह सब अधिकारी आज कहाँ हैं ? जो देश तुम्हारी अनुमति के बिना ही अभी इसी क्षण समुद्र में विलीन हो सकता है, ज्वालामुखी की फैली हुई अग्नि की ज्वाला से विध्वंस हो सकता है अधिक बलवान शत्रु से छीना जा सकता है उसमें तुम्हारा क्या अधिकार है ? जिस सौन्दर्य के गर्व से संसार को तुच्छ मान रहे हो, वह अपनी इच्छा से तुमने पाया है क्या ? या बुढ़ापे में अपनी इच्छा से ही उसकी रक्षा करने में समर्थ होंगे क्या ? तुम्हें जो बुद्धि, शक्ति पद-मर्यादा और कुल गौरव मिले हैं, क्या वे सब तुम्हारी अभिलाषा से ही प्राप्त हुए हैं ? सम्भवतः कहोगे मेरे कर्मों के फल से ही तो ये सब संघटित हुए हैं। किन्तु स्मरण रखना हम लोग बाजीगर के पुतले की तरह हैं भगवान जैसा चाहते हैं, वैसे हमें नचाते हैं, "भ्रामयन सर्वभूतानि तन्त्रारुढ़ानि मायया"। तुम स्वाधीन नहीं हो; किसी पर भी तुम्हारा अधिकार नहीं है। भगवान अपनी इस विशाल जमीदारी के लिये— अपनी आनन्द लीला के अभिनय के लिये तुम्हारे पास जिस समय जो कुछ जायदाद जमा रखते हैं वह तुम्हारे अपने लिये नहीं हैं. उसमें तुम्हारा प्रभुत्व और अधिकार भी नहीं है। तुम्हें उसका भगवान के लिये, जन साधारण के लिये, जगत के लिये रक्षण और व्यवहार करना चाहिये। तुम केवल खजांची हो— अर्थ के मालिक नहीं। इस खजांचीगिरी के लिये भगवान से तुम केवल आजीविक (bare maintenance) रूप से भत्ता (allowance) पा सकते हो। इसलिये कहना पड़ता है, "हे प्रभो। सब ही तुम्हारा है। देह, मन, प्राण, सम्पत्ति, जगत्,

कर्म सब तुम्हारा ही है। मैं केवल तुम्हारा दास हूं भगवन्! यदि तुम्हारा ही कार्य करने के लिये इस शरीर की रक्षा करने की तुम्हारी इच्छा हो तो हे दयामय! अन्न व पानी से इस देह को पुष्ट कर दो।" भगवानसे न याचना करके उनकी जायदाद का किस तरह उपयोग किया जाये।

आज एक ईसाई भक्त की कहानी और सुन लो। इनका नाम था जार्ज-मूलर, मकान था ब्रिस्टल शहर में। सम्भवतः अब से १५-१६ साल पहले उन्होंने शरीर छोड़ा। इन्होंने अनेकों भाषाओं में बाईबल का अनुवाद करवाया था। प्रायः दो लाख धर्मग्रन्थ वितरण किये, और हजारों धर्म-प्रचारकों को नियम से वेतन देते रहे। इन्होंने पाँच अनाथालय प्रतिष्ठित और परिचालित किये थे। और कई स्कूल और कालिज स्थापित करके उनमें बीस पच्चीस हजार विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की थी। इन के किये हुए कार्य तो तुमने सुने। किन्तु यह बता सकते हो कि इन सब कार्यों के लिये रुपये कहाँ से मिले? मूलर ने एक गरीब के घर में ही जन्म लिया था, तथा गरीब रहते हुए गरीबी की हालत में ही देह-त्याग दिया था। मृत्यु के समय सम्भवतः २००) रुपयों से अधिक उनके पास नहीं थे। तो भी उन्होंने उन सब कार्यों के लिये लगभग २१-२२ लाख रुपये खर्च किये थे। उन्होंने किसी से धन की याचना नहीं की। कभी भी किसी से उधार नहीं लिया और न उधार से वस्तुयें खरीदी। वह केवल अपनी इच्छा से प्रारम्भ किये हुए कार्यों के विषय में पत्रिकाओं में सूचना दे देते थे। अर्थ प्राप्ति के लिए उनकी एक मात्र चेष्टा और उपाय थे—भगवान से प्रार्थना करना। जब कभी अर्थ की आवश्यकता पड़ती, तब ही वे प्रार्थना करते, थे, एवं देर या सवेर उनकी

प्रार्थना अवश्य पूर्ण होगी—ऐसा विश्वास रखते थे कितने ही दिन ऐसे भी हुए कि अनाथाश्रमों में प्रातः भोजन (Breakfast) हो चुका किन्तु मध्यान्तर भोजन के लिये कुछ भी नहीं था। मूलर कोई चीज उधार लेने के घोर विरोधी थे। बस प्रार्थना करके वह अपना कर्तव्य पूरा कर देते थे। किन्तु आश्चर्य यह था कि कभी भी अर्थाभाव के कारण उन्हें अथवा किसी अनाथ बालक को उपवास नहीं करना पड़ा। बिना माँगे ही दान प्राप्त होकर उनके आवश्यक कार्य पूरे हो जाते थे। सन्ध्या का जल-पान और रात्रि का भोजन भी इसी-इसी ढंग से सम्पादित हो जाते थे। चार बजे किसी मित्र के आने की बात को किन्तु वह नहीं आया। मूलर साहब तुरन्त प्रार्थना करने लगे—"भगवान! मित्र को भेज दो।" वे कहते थे "भगवान और मैं, दोनों ने मिलकर यह व्यापार खोला हैं। रुपये देने वाले वे हैं और शरीर से परिश्रम करने वाला हूँ मैं" यदि कोई पूछता कि आप क्यों इतने सारे कार्य करते हैं? तो वे जवाब देते "भगवान के पास सरल भाव से प्रार्थना करने से वह निष्फल नहीं होती, यह मैं जानता हूँ और विश्वास करता हूँ। किन्तु बहुत से लोग सोचते हैं कि पूर्वकाल में लोगों को जैसे विधाता की करुणा प्राप्त होती थी, वैसे आजकल प्राप्त होना सम्भव नहीं। साधारण व्यक्तियों के इस भ्रम को मिटाने के लिये ही मैं भगवान पर पूर्णतया निर्भर करके इन अत्यन्त व्यय-साध्य में प्रवृत हुआ हूँ। भगवान ने सर्वदा ही मेरी प्रार्थना स्वीकार की है।

सती घाट, कनखल
२७-३-१९१४

११

ॐ

मुख्य साधना

नारायणेषु !

देह चिन्तन छोड़ना ही श्रेष्ठ है, इसमें संशय नहीं है, और उसके लिये चेष्टा भी करनी चाहिये।

बहुत पुस्तकें पढ़ने की इच्छा भी बहुत अच्छी नहीं है। बहुत समय पुस्तकें पढ़ते हुये इच्छा भी बलवती हो जाती है। उस नशे का दमन करना चाहिये। पढ़ना केवल साधन में सहायता के लिये है—साधन के स्थान पर अधिकार करने के लिये नहीं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि पुस्तक पढ़ना सर्वथा बन्द कर दिया जाय।

निस्त्रैगुण्य के उपासक बनने का निश्चय कर अन्य प्रकार से जड़ोपासक मत बनो। ब्रह्म निर्गुण होकर भी त्रिगुणमयी महाशक्ति का आधार है। 'तज्जलानिति शान्त उपासीत्।' किन्तु साधारणतः सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करने के अभ्यास में गिलास, कटोरा, मनुष्य, गौ····प्रभृति प्रत्येक वस्तु एवं जीव के भीतर मन को प्रविष्ट करके उनमें ब्रह्मत्व का आरोप नहीं करना होगा। सर्वदा निर्गुण, निराकार, निर्विकार एवं नित्य निरंजन में सम्पूर्ण मन को समाहित करने की चेष्टा करनी

होगी। इस प्रकार चेष्टा करते हुए जब भी पूर्वाभ्यासवश मन विषयाकार होकर विक्षिप्त होगा तब ही विचार और दृढ़ता से उस विषय को निर्विशेष ब्रह्म समुद्र में लीन करना होगा। यही है मुख्य साधना। समय-समय पर अनुलोम, विलोम चिन्तन भी अपनी इच्छानुसार कर सकते हो।

साधन के प्रतिकूल चिन्तन और कर्म यथा-सम्भव छोड़ने पड़ेंगे। एक बात स्मरण रखनी होगी। सत्य और संयम, जप व विचार ज्ञान तथा वैराग्य, क्षमा और अहिंसा—इन सबका पूर्णत्व मौन में है। वाणी के मौन में नहीं, किन्तु मन के मौन में है।

और एक विषय पर कभी चिन्तन करना जगत् त्रिगुण का ही विकास है। उसमें त्रिगुण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जब जगत की ओर मन जाये तभी इस प्रकार का चिन्तन करना चहिये; दूसरे समय नहीं। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

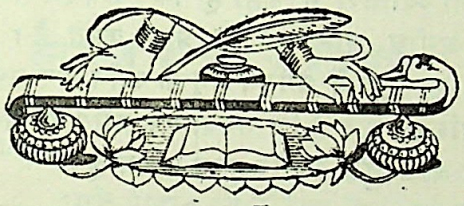

१२

ॐ

दिव्य मन्दिर

निरापत्सु !

एक अंग्रेज कवि ने लिखा है:—

Thrice blcssed are the pure,
as the wise have us told,
They'll find the dear Lord-
in their heart's prison-hold,
For, a fit habitation for God to be sure
Is the eye that is chaste and the heart that is pure.

अर्थ—ज्ञानी व्यक्तियों ने कहा है कि पवित्रात्मा ही अवश्य ईश्वर के अमोघ आर्शीवाद को प्राप्त करते हैं। वे ही अपने हृदय रूपी कारागृह में प्रेममय प्रभु के दर्शन कर सकेंगे, क्योंकि यह तो निश्चित बात है कि भगवान के योग्य आवास भूमि वही है जिसकी आखें शुद्ध है और हृदय पवित्र है।

पवित्र हृदय मन्दिर ही भगवान का प्रिय विलास गृह है। सब देशों के सब महापुरुषों ने इस बात का पूर्ण समर्थन किया हैं। अब हमें विचार करना होगा कि पवित्र हृदय का अर्थ क्या हैं ? क्या होने से मन पवित्र होता है। बर्तन

में खालिस घृत है' कहने से क्या समझा जाये ? यही समझा जाता है कि घृत में और कुछ भी वस्तु मिली हुई नहीं। किसी वस्तु के साथ अन्य कुछ दूसरी वस्तु का मिश्रण न होने पर ही उसे पवित्र कहा जाता है। अस्तु, अब विचार किया जाये— 'पवित्र मन किसे कहते हैं ?' जिस मन के साथ और कुछ भी मिश्रित नहीं होता, वही पवित्र मन है। मन विषय में लिप्त होने पर ही अपवित्र होता है। अतः पूर्णतया निर्विषय-मन ही पवित्र होता है। मन विषय संग छोड़कर प्रशान्त होने पर ही, समुद्र में नदी की भाँति निर्वाणानन्द में लीन हो सकता है।

कनखल
२-८-१९१४

१३

ॐ

आनन्द के रूप व स्वरूप

नारायणेषु !

तुमने आनन्द की तूलिका से (चित्र खींचने की कलम से) विजया (विजय दशमी) का चित्र खींचा है। जो धृतिमान साधक शास्त्र विधि का अनुसरण करके श्रीजगन्माता महाशक्ति के उद्बोधन और आराधन को भली-भाँति सम्पन्न

करते हैं, उनकी विजय ही सच्ची विजय होती है। उस विजय का आरम्भ है, किन्तु समाप्ति नहीं है। उस विजय के प्रसाद रूप में वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर आनन्दमय, उत्सवमय परमधाम को प्राप्त कर लेते हैं। यह हुई एक प्रकार की विजय और तुम्हारी हमारी जो विजय है—जो लोग मिठाई खाने नये वस्त्र पहनने को ही दुर्गोत्सव का प्रधान अंग समझते हैं। एवं जो पूजा के समय नाना प्रकार के तुच्छ विषयों के सम्भोग की आशा से उत्फुल्लित होते हैं—उस प्रकार की तुम्हारी हमारी जो विजया है सो तो दूसरी प्रकार की विजय है हमारी जो विजय का आनन्द है वह विद्युत की भाँति क्षणस्थायी है, एवं हास्य प्रवण महाराजा के सम्मुख पुत्र शोकातुर सखा की हंसी की नाईं निरर्थक है। यदि तुम्हें अवसर है तो आओ आज इन दोनों प्रकार की विजय एवं दोनों प्रकार के आनन्द के विषय में कुछ आलोचना करें।

पड़ोसी के घर में आग लगाकर क्रूरकर्मा जमीदार को जो आनन्द मिला है, शक्ति-क्षयकारी इन्द्रिय भोगों में मस्त होकर चरित्रहीन युवक को जो आनन्द मिलता है, आवश्यक खर्चे को भी संकोच करके धन को इकट्ठा करने में कृपण को जो आनन्द मिलता है; रेखागणित की चर्चा में तल्लीन रहकर मृत्युग्रस्त आर्कमडीज (Archemedis) को जो आनन्द मिलता है, एवं अपनी उपार्जित सम्पूर्ण धन सम्पत्ति का जगत्के कल्याणार्थ खर्च करके सेवापरायण आत्मत्यागी को जो आनन्द मिलता है–ये सभी आनन्द एक ही श्रेणी के या एक ही प्रकार के नहीं हैं। एक की उपेक्षा दूसरा पवित्र एवं एक की तुलना में दूसरा उत्कृष्ट है। जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों को अवलम्बन करके भिन्न-भिन्न स्थितियों में मानव जिन आनन्दों का आलिंगन

करते रहते हैं; वे सब आनन्द अपने-अपने आलम्बन की भिन्नता के अनुसार पृथक्-पृथक् श्रेणी के होते हैं। एक आनन्द दूसरे से तुम्हें अधिक उन्नत एवं पवित्र कर देता है। यह तुम स्वयं अनुभव कर सकते हो। इस हिसाब से जागतिक आनन्द में या जागतिक विषयोपलक्षित आनन्द समूह में से जो श्रेष्ठतम है—उससे भी भजनानन्द-ईश्वर-आराधना का आनन्द श्रेष्ठतर हैं। पुनः जो इससे भी श्रेष्ठ है, जो आनन्द श्रेष्ठतम, उच्चतम, पवित्रतम एवं उत्कृष्टतम है—वही ब्रह्मानन्द है।

ब्रह्मानन्द की तुलना से अन्य सभी आनन्द हेय, निकृष्ट एवं अपवित्र है। केवल इतना ही नहीं, अपितु उसकी तुलना में वे सब हैं भी कितने से ? अति अल्प नगण्य हैं। थोड़ा धैर्य के साथ विचार करने पर समझोगे कि उनमें क्रमशः एक आनन्द से दूसरा अधिक घनीभूत हैं और परिणाम में भी अधिक है। चिकित्सक दुर्बल व्यक्तियों को अकस्मात अत्याधिक आनन्ददायक संवाद देने में संकोच करते हैं। दूध के साथ चीनी मिलने पर तुम्हें जो आनन्द मिलता है, एक रसगुल्ला मिलने पर उससे भी अधिक परिमाण में—बहुत अधिक मात्रा में आनन्द का उपभोग करते हो। आनन्दों में इस प्रकार मात्रा, वस्तु-परिमाण एवं घनत्व की भिन्नता विद्यमान है। जो आनन्द सबसे अधिक घन है जिसकी मात्रा एवं परिमाण सबसे अधिक है—"वही ब्रह्मानन्द है।"

किन्तु यह भिन्नता भी बहुत अधिक नहीं है—और भी एक अन्य विचार है। क्षण में नष्ट होने वाले सांसारिक पदार्थों का आश्रय लेकर हम भिन्न-भिन्न समय पर जिस आनन्द का उपभोग करते हैं उनमें से प्रत्येक ही क्षण विध्वंसो

हैं। उपभोग के समाप्त होते न होते ही वह विलीन हो जाता है। केवल स्वयं विलीन हो जाता है—ऐसा ही नहीं; किन्तु एक निरानंद एक विषाद एवं एक दुःख के सम्मुख हमें पहुँचा कर मानो उपहास की हंसी हँसते हुये अकस्मात् अन्तर्हित हो जाता है। स्पर्श सुख में मस्त हाथी जैसे नशे की मस्ती में न जानता हुआ गर्त्त में गिरकर बन्धन में फँसता है। हम भी वैसे सुख के आपात्-प्रतीयमान रूप-लावण्य से मुग्ध होकर उसके पीछे-पीछे दौड़ते हुये सुख का स्वाद न लेते हुए ही दुःख में गिर पड़ते हैं। प्रत्येक सुख एक दुःख के सम्मुख पहुँचा कर प्रत्येक तुष्टि एक असन्तोष में ले जाकर, प्रत्येक तृप्ति एक अभाव में फेंककर कैसी विश्वास-घातकता, कैसी निर्दयता एवं कैसी हिंसावृत्ति का परिचय देती है। तो भी हम–विचारहीन एवं अविवेकी सर्वदा ही क्षुद्र, परिमित एवं क्षण विनाशी आनन्द को ही जीवन का प्रियतम चिर-सुहृद समझकर उनके पीछे-पीछे जाने के लिये व्याकुल हो रहे हैं। सम्भवतः तुम कहोगे, जगत् का सुख भी जैसा क्षण में नाशवान है—दुःख भी तो वैसा ही विनाशी है, और सुख जैसे दुःख के पास पहुँचता है दुःख भी तो वैसे ही सुख के पास पहुँचाता है। इसलिये सुख हमें दुःख से भेंट कराकर और एक सुख प्राप्ति की सम्भावना को ही उत्पन्न कर देता है। फिर सुख की विश्वास घातकता कहाँ? वास्तव में तो सुख विश्वास घातक है नहीं। दोनों के विनाशी होने पर भी हम सुख को ही चाहते हैं, दुःख को नहीं, यही हमारा स्वभाव है। एक सुख बहुत देर में अन्य एक सुख देगा। और एक दुःख शीघ्र ही एक सुख में पहुंचावेगा। इस प्रकार की भिन्नता रहते हुए भी हम दुःख को हेय और सुख को उपादेय समझते हैं। यदि इस बोधसे हमें छुटकारा मिलता और सुख-दुःखकी भिन्नता

बोध को यदि हम भूल सकते तो सम्भवतः हम दुःख को चिर-काल के लिये निर्वासित कर सकते। किन्तु सुख को चाहनेवाले सांसारिक जीव ऐसा नहीं कर सकते। नहीं कर सकते, इसलिए हम में से कोई-कोई बुद्धिमान व्यक्ति सुख को विश्वास घातक प्रतिपादन करना साहते हैं। अस्तु, सुख का यह कलंक सत्य है या मिथ्या इस विचार में समय नष्ट करने की आवश्यता नहीं है। दुःख को कोई नहीं चाहता—परन्तु सुख को सब ही चाहते है। किन्तु संसारके सभी सुख विनाशशील हैं। सांसारिक आनन्दों में से जो आनन्द कुछ अधिक काल तक रहता है, वही हमें अधिक प्रिय होता है। और जो आनन्द उसकी अपेक्षा अल्पकाल तक रहता है, वह हमें अल्प प्रिय होता है। जो आनन्द अनन्तकाल तक स्थिर रहता है जिस आनन्द की समाप्ति कभी नहीं होती, जो आनन्द हमें दुःख में नहीं फेंकता है, जो आनन्द हमें चिरकाल के लिये दुःख से मुक्त करा देता हैं, और जो आनन्द हमारी तृष्णा को चिरकाल के लिये मिटा देता है एवं जो पूर्ण तृप्ति और पूर्ण शान्ति स्वरूप है, वही ब्रह्मानन्द है।

यह अनन्त, अपरिनेय, परिपूर्ण, पवित्रतम् ब्रह्मानन्द सांसारिक आनन्दों से कितने गुना अधिक है, उसका एक साधारण हिसाब संग्रह किया जाता है, हिसाब यह है—संसार में तो प्रत्येक व्यक्ति ही समय-समय पर नाना प्रकार के आनन्द का उपभोग करता है। किन्तु सब कोई एक से सुखी नहीं होते। साधारणतः कोई अधिक और कोई अल्प सुखी होता है। जगत में सबसे अधिक सुखी कौन है—इसका अनुमान लगाओ। सोचो कि तुमने नवयौवन प्राप्त किया है—अनिन्द्य सुन्दर देह कान्ति, परम बलिष्ठ, कर्मठ एवं स्वस्थ्य सम्पन्न

शरीर भी प्राप्त किया है। श्रेष्ठतम कुल में जन्म लिया है। ससागरा समग्र पृथ्वी का साम्राज्य भी तुम्हें प्राप्त है। धन-रत्नों से और नाना प्रकार की वस्तुओं से तुम्हारा भण्डार सर्वदा परिपूर्ण रहता है। तुम्हारे अलंघनीय आदेश का पालन करने के लिये सहस्त्रों नर-नारी तैयार हैं। तुम्हारे प्रताप से, तुम्हारे प्रभाव से, तुम्हारी शक्ति से सभी ने तुम्हारी अधीनता स्वीकार की है। सब कामनायें मानो तुम्हारे पाद सेवन के लिए सर्वदा व्याकुल रहती है। तुम्हारे गुण तुम्हारी विद्या, बुद्धि, शक्ति की ख्याति ने अन्य सभी के यश को हतप्रभ कर दिया है। यदि तुम ठीक ऐसे ही बन सको, तो जगत में तुम सबसे अधिक सुख भाजन माने जाओगे इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार का तुम्हारा जो आनन्द है वही इस जगत का पूर्णानन्द है। इस जगत का जो पूर्णानन्द है। उससे सहस्त्र गुणा अधिक है गन्धर्व लोकका पूर्णानन्द,गन्धर्व लोकका जो पूर्णानन्द, है उससे सहस्त्र गुणा अधिक है—पितृलोक का पूर्णानन्द। उससे लक्ष गुणा अधिक है देवलोक का पूर्णानन्द और देवलोक से सहस्र गुणा अधिक है प्रजापति लोक का पूर्णानन्द से, प्रजातति लोक के पूर्णानन्द अनन्त गुणा अधिक है—ब्रह्मानन्द।

अब अनुमान लगा लो कि संसार के जिस अखिल मधु[1] के प्रति निर्निमेष दृष्टि रखते हैं, संसार के जिन आनन्दों के लिये तुम आत्म-विस्मृत होकर उद्भ्रान्त चित्त से दौड़-धूप कर रहे हो, संसार के जिन आनन्दों के प्रलोभन से मुग्ध होकर जीवन को दुःखमय और अशान्तिमय बनाये हुए

१. अखिल-मधु अर्थात् मिट्टी मिश्रित मधु की कथा 'वेदवाणी' प्रथम प्रचार में लिखी है।

हो—कहाँ है वह आनन्द और कहाँ है वह ब्रह्मानन्द। ब्रह्मानन्द का तो एक हिसाब तुम्हें मिला। इस आनन्द की प्राप्ति के लिये एवं दुःख की चिरनिवृति के लिये क्या तुम चेष्टा करोगे। इसी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करना ही विजय है।

तुम पूछोगे यह आनन्द—परिपूर्ण ब्रह्मानन्द कहाँ मिलता है। सुन लो—वह मिलता है नित्य 'वृन्दावन' में। वह देश जल और मिट्टी से नहीं बना है वह आकाश से बना है और आकाश से ही घिरा हुआ है। यदि कभी उस देश में जाने को व्याकुल हो जाओ, और उस समय अवसर मिले तो उस देश का संवाद देने की चेष्टा करूँगा। आज बस।

शिवमस्तु इति।

काशीधाम
६ कार्तिक १३२५ (बंगाब्द)

वेद-वाणी

द्वितीय भाग

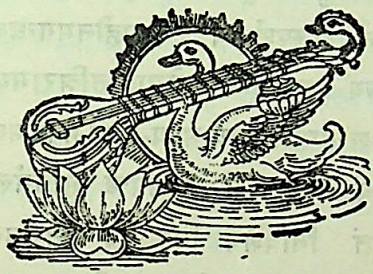

१४ (अ)

ॐ

सच्चिदानन्द-आत्म-स्मरण

ॐ तत्सदिति निर्देश्यमनन्तं हि निरन्तरम् ।
निराकारं निराधारं निरालम्बं निराश्रयम् ।।१।।
ऊर्द्ध्वं पूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं सदात्मकम् ।
सुसूक्ष्मम्पुरुषम् ब्रह्म-विष्णुं सर्वगतं विभुम् ।।२।।
अजं सत्यं ध्रुवं नित्यं शाश्वतञ्च सनातनम् ।
ऋतम्पुराणममृतं विनाशोत्पत्तिवर्जितम् ।।३।।
अविभक्तमखण्डञ्च निष्कलञ्च निरंशकम् ।
अद्वैतमेकरूपञ्च निर्भेदं हि एकं समम् ।।४।।
सर्वावयवनिर्मुक्तं सर्वेन्द्रिय - विवर्जितम् ।
मनः-शून्यं बुद्धि- शून्यं प्राण-शून्यं विदेहकम् ।।५।।
शब्दहीनं स्पर्शहीनं रूपहीनमगन्धवत् ।
रस- शून्यं प्रभा-शून्यं व्योमातीतन्निरामयम् ।।६।।
ऊर्द्ध्व-शून्यमधः शून्यं मध्य-शून्य मकल्मषम् ।
सर्व-शून्यं निराभासं निर्लेपञ्च सुनिर्मलम् ।।७।।
नित्य-पूतं निर्विशेषं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अविक्रियात्मकं धीरमपापविद्धमच्युतम् ।।८।।

निश्चलं निष्क्रियं शान्तं षड्ऊर्मि-रहितं शमम् ।
संगहीनं कामहीनं विरजं स्थिरमव्ययम् ॥९॥
निर्विकल्पं निर्विकारं निर्गुणं निरुपाधिकम् ।
निर्दोषमभयं तत्त्वमकलङ्कमुदासीनम् ॥१०॥
अक्षरं हि गुणातीतं मायातीतमलक्षणम् ।
अद्वेयमनुपादेय मवाङ् मनसगोचरम् ॥११॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयमनिर्देश्यं यदद्भुतम् ।
मन्त्रहीनं भाषाहीनं स्वर-व्यञ्जन-वर्जितम् ॥१२॥
शुद्धं मुक्तं मोक्षरूपं केवलं विशोकम्परम् ।
एक रसाच्चाद्वितीयं द्वैताद्वैत-विवर्जितम् ॥१३॥
विज्ञानं प्रज्ञानं बुद्धं सम्बिद्रूपं चिदात्मकम् ।
अतीन्द्रियज्ञानं वेदं चिन्मात्रञ्चस्वयम्प्रभम् ॥१४॥
विधूमाग्निनिभं देवं स्वप्रकाशं ज्योतिर्मयम् ।
शुभ्रं शुक्रं द्योतमानं स्वयञ्ज्योति हिरण्मयम् ॥१५॥
आनन्दं परमानन्दं परानन्दं परात्परम् ।
पूर्णानन्दं महानन्दं भूमानन्दं रसं शिवम् ॥१६॥
घनानन्दं चिदानन्दं नित्यानन्दं सदाशिवम् ।
सदानन्दं सर्वानन्दं पूर्ण-तृप्तिं सुखात्मकम् ॥१७॥
यत् पदं परमं वेदाः कीर्तयन्ति पुनः पुनः ।
सच्चिदानन्दमात्मानं तन्मामेव स्मराम्यहम् ॥१८॥

ॐ हरि ॐ

१४ (ब)

ॐ

(१) काँटों से परिपूर्ण एक घने जंगल के भीतर होकर कोई पथिक बड़ी कठिनता से मार्ग पर चल रहा था। अचानक एक व्याघ्र उसके पीछे लगा। अन्य कोई उपाय न देखकर वह समीप के एक वृक्ष पर चढ़ गया और उस पर ठहरे एक बलवान बन्दर को देखकर उससे आश्रय की प्रार्थना की। व्याघ्र ने वृक्ष के नीचे से पुकार कर बन्दर से कहा, "मनुष्य स्वार्थी होता है, वह सदा ही तुम्हारी हिंसा करता है- अतएव तुम इसको मेरे सामने फेंक दो।" बन्दर ने उत्तर दिया, "इसने जब मुझसे आश्रय माँगा है तब मैं इसकी अवश्य रक्षा करूँगा, किसी प्रकार से इसे नहीं फेंकूंगा। कुछ समय बीतने पर रात्रि आई। पथिक किसी प्रकार से एक डाली पकड़कर बैठा रहा। बन्दर को नींद आ गई, व्याघ्र उस समय भी वृक्ष के नीचे खड़ा था, उसने मनुष्य से कहा, "बन्दर का क्या विश्वास है ? वह तो सदा ही मनुष्य की हिंसा करता आया है, तुम्हें उसकी अधीनता का कष्ट मिट जायगा। तुम इसी समय उसे मेरे सामने फेंक दो, फिर मेरे चले जाने पर तुम निर्भय होकर—शान्ति से रहना।" पथिक ने व्याघ्र की बात मान ली, एवं अपने आश्रयदाता को जोर से धक्का दिया। तब वह

शाखामृग (बन्दर) गिरते-गिरते जाग गया। तुरन्त उसने कूद-कर एक शाखा को पकड़ लिया। पुनः कूदता-कूदता वह एक ऊँची शाखा पर जा बैठा। तब व्याघ्र ने बन्दर से कहा," इस कृतघ्न की अब भी तुम रक्षा करना चाहते हो? बन्दर ने कहा, जब यह एकबार मन-प्राण से मेरा शरणागत हो चुका, तब दुर्बलता के कारण वह भले ही कभी मेरे प्रति हिंसक हो जाये, और मुझे त्याग दे, तो भी मैं उसे कदापि नहीं छोड़ूंगा। व्याघ्र कोई भी उपाय न सूझने पर लाचार होकर चला गया।

(२) "हे भगवन्! भयंकर तूफान में पड़ा हूँ, शरीर अवश हो गया है और तैरने की सामर्थ्य भी नहीं, सम्भवतः अभी डूब जाऊँगा, जलचर हिंस्र जीव भी मानो मुझे निगलने को दौड़े आ रहे हैं। रक्षा का और कोई भी उपाय नहीं दीखता अब तुम्हारे सिवा मेरा कोई नहीं है। मैं पूर्णतया तुम्हारे ही आश्रित हूँ—शरणागत हूँ। मैंने तुम्हें आत्म समर्पण कर दिया है। हे दीनानाथ! तुम्हारी इच्छा ही पूर्ण होगी। तुम मुझ पर कृपा करो!" यह भी सच्चा आत्मसमर्पण नहीं है। सच्चे आत्मसमर्पण में—न तो 'हा हतोस्मि' भाव है, न अनुताप है, न प्रार्थना है, न कामना है और न अपने या दूसरे के या जगत के विषय में कोई चिन्ता रहती है वहाँ तो कुछ भी कर्तव्य या कुछ भी जिम्मेवारी नहीं रहती। समर्पित चित्तवाले का मन सदा ही भगवन्मय रहता है। वह तो सारा बोझ भगवान के कन्धे पर डालकर निश्चिन्त बैठा रहता है। उसका तो 'मेरा' कहने को कुछ नहीं रहता। अतः वह पूर्णतया निःसंग एवं उदासीन हो जाता है।

(३) हे भगवन् शरीर-मन एवं सम्पूर्ण जगत तुम्हारा शरीर है। इस मुँह से तुम ही बोल रहे हो। इस मन

से तुम ही चिन्तन कर रहे हो, और इस शरीर से तुम ही कार्य कर रहे हो।

(४) हम लोग ऐसे अकिंचन और दीन हैं, ऐसे क्षुद्र-हृदय वाले एवं अधम हैं, ऐसे विचारहीन और अन्धे हैं, ऐसे उद्यमविहीन और हतभाग्य हैं कि प्रकृति रानी के दिये हुए दो-एक रुपये या मोहरें पाकर ही विश्वसम्राट से ही पाने-योग्य अनमोल रत्नराशि को बात भूल जाते हैं।

(५) जगत् के सृजन और परिपालन कार्य के लिये भगवान ने हमारे न्याय शास्त्र की सहायता ली नहीं।

(६) मनुष्य जैसे कलम से लिखता है—भगवान भी वैसे ही सब शरीरों स कर्म कर रहे हैं।

(७) मैं नित्य एवं सर्वगत हूँ, मेरी मृत्यु क्या? मैं चिरकाल तक नदी रूप में प्रवाहित रहूंगा; सूर्य रूप से किरणें होकर विकीर्ण होऊँगा, तरुपल्लव होकर कम्पित रहूँगा, असंख्य जोव जन्तु रूप से विचरण करूँगा, अनन्त ब्रह्माण्डों में भ्रमण करता रहूँगा, अनन्त कल्पों में अनन्त लीलायें करूँगा और महाप्रलय में भी स्व-स्वरूप में नित्य स्थिर रहूँगा।

(८) होली के उपलक्ष में बालक कपड़े पर रंग डालते हैं न? अब से वे एक नई व्यवस्था करें, तो कैसा होगा? कुछ हरि-माटी[1] घोल कर सामने रखें। जो कपड़ा सम्मुख आवे उसमें ही इसे लगा दें। जिस कपड़े में माँड़[2] (मार) हो

---

१. हरि-माटी—मूल तत्व, भगक्तसत्ता

२. 'मार" मांड काम या कामना वासना रूपी मांडा

उसमें कई बार लगावें। कुछ समय पीछे देखेंगे कि सब ही कपड़े समान ही रँगे गये हैं। यह भी मालूम पड़ेगा वह रंग बिना मोल का है। केवल परिश्रम की वस्तु "हरि-माटी" है। 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' तभी वह विश्व के हरिमय देख सकेंगे।

(६) आजकल के लड़के कुछ गम्भीर होते हैं, इसलिये यदि वे अबीरोत्सव नहीं करना चाहें तो ऐसा ही होली पूजन क्यों न करें? तत्काल खिले हुये हृदय-कमल पर स्वर्ण की भाँति उज्जवल मणि-मन्दिर को ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष करो। उसके बीच में अतुलनीय रत्नवेदी पर प्रतिष्ठित श्रीभगवान की दिव्य मधुर मूर्ति का माथा द्वारा दर्शन करते रहो। उसकी ज्ञानरूप अर्घ्य और भक्तिरूप चन्दन से श्रद्धा के साथ मानस पूजा करो। अभिमान को भगवान् के चरणों में निवेदन करके सरल मन से उनका दासत्व स्वीकार करो। दीनभाव से उन्हें नमस्कार करो। एकाग्र चित्त से उनसे कृपा प्रार्थना करो। देखोगे, श्रीठाकुर जी की स्निग्ध और उज्जवल प्रभा से दशों दिशायें प्रकाशित हो गई हैं। अनुभव करोगे कि श्रीमुख के मृदु एवं मधुर हास्य से विश्व ब्रह्माण्ड पुलकित हो रहे हैं। तुम तब अनुभव करोगे वह है—

अनल अनिल में, नभ सुनील में,
गिरवर औ सरवर गम्भीर में,
तरु-वल्लरि में, सजल जलद में,
उडुपति उडुगण अरु रवीन्दु में॥

इस प्रकार सभी के हृदय सिंहासन में उनका दर्शन करोगे और जगत में सर्वत्र ही उनकी प्रेम लीला को

प्रत्यक्ष देखोगे। सारा संसार उनके रंग से रंजित है। उनकी प्रभा से ही अनुप्राणित है और उनके तेज से ही संजीवित हैं।

(१०) पिच्छिल (रपटीले) केवल पिच्छिल ही क्यों, नाना प्रकार से दुर्गम जीवन पथ के यात्रियों का कर्त्तव्य है,—कि विचार कि मशाल और भक्ति की लाठी लेकर अविराम गति से पथ पर चलते रहें।

(११) समुद्र जैसे भीतर से प्रशांत रहते हुये भी ऊपर से आन्दोलित तरंगों को उछालता रहता हैं वैसे ही महा-पुरुष भी अन्तर में प्रशान्त भाव रखकर बाहर चंचलता का छद्मवेष धारण किये कर्म-क्षेत्र में विचरण करते हैं।

स्वर्गाश्रम
२९ आश्विन १३२३ (बंगाब्द)

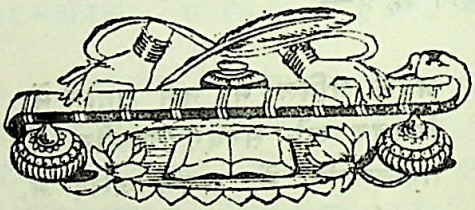

१५

ॐ

(१) महात्मा तुलसीदासजी ने भक्ति को इन नौ भागों में विभक्त किया है।

१—साधु संग
२—भगवत कथा प्रसंग में रति
३—गुरु-सेवा
४—भगवान की स्तुति, प्रार्थना, वन्दना इत्यादि
५—मन्त्र-जप
६—चाहे किसी भी प्रकार से, सर्वदा भगवत्स्मरण (ध्यान, उपासना इत्यादि)
७—सर्वदा सर्वत्र एकत्व दर्शन करना।
८—सब अवस्थाओं में मन के समत्व की रक्षा और स्वप्न में भी किसी के दोष न देखना।
९—सरल भाव से पूर्णतया भगवान के प्रति आत्म समर्पण करना।

(२) यदि प्रेम की प्राप्ति चाहते हो तो सर्वतो-भावेन भगवान का आश्रय स्वीकार करो।

(३) राजधानी उदयपुर से थोड़ी दूर पहाड़ की चोटी पर एक सुन्दर मन्दिर में भगवान नारायण विराजमान

हैं। उस प्रान्त के रहने वाले उन्हें "श्री चार भुजा जी" कहते हैं। अनन्त लीला-विलासमय और विशिष्ट महिमा मण्डित इन "चार भुजा जी" की ख्याति से आकृष्ट होकर दूर-दूर से असंख्य नर नारी नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से पूजा की सामग्री लेकर उस मन्दिर में आते रहते हैं। वर्ष में एक विशेष दिन मन्दिर की तलहटी में एक बहुत बड़ा मेला लगता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के पीछे तक वह मेला रहता हैं। वह स्थान पहाड़ी होने के कारण आये हुये यात्रियों में से कोई-कोई प्रायः प्रति वर्ष ही साँयकाल मार्ग लौटते समय घर भूल जाते हैं, कहते हैं उस समय एक नीले रंग के घोड़े पर चढ़कर भगवान "चार भुजा जी" अदृश्य रूप से उन राह भटके लोगों को मार्ग दिखला देते हैं।

एक दिन एक सन्तानहीन वैश्य दम्पत्ति ने उस मन्दिर में आकर मनौती की कि यदि भगवान की कृपा से उन्हें एक पुत्र मिल जाये, तो वह उस पुत्र को छः वर्ष की आयु होने पर श्रीभगवान की सेवा में अर्पित करेंगे। अथवा पुत्र की छः वर्ष की आयु होने पर अपनी सामर्थ्य-अनुसार भगवान की पूजा करेंगे—ठीक स्मरण नहीं है। भगवत्कृपा से यथा समय उनके एक पुत्र का जन्म हुआ। पाँच वर्ष की आयु होने पर एक दिन सन्ध्या के समय घर का एक विश्वासी नौकर उस बालक को दूसरों की दृष्टि से बचाते हुए एक जन-शून्य वन में ले गया, वहाँ किसी शस्त्र से उसका सिर काटकर बालक के सारे आभूषण उतार लिये और फिर थोड़ी देर में घर लौटकर वह अपने काम में लग गया। सन्ध्या होने पर पुत्र के न मिलने से सब लोग बड़े चिन्तातुर हुए। इस प्रकार अत्यन्त विषाद और

व्याकुलता से सुदीर्घ रात्रि बीत जाने पर उन्होंने देखा कि बालक स्वस्थ शरीर से अकेला वापिस आ रहा है। बालक ने उन्हें अपनी मृत्यु का वृत्तान्त सुनाकर कहा कि आज सवेरे ही वह जीवित हो गया था, और उसे न जाने कौन एक नीले घोड़े पर अपने पास बिठाकर अभी-अभी मकान के फाटक के पास छोड़कर चला गया। अभी तक उस बालक के जन्म समय के के बाल नहीं काटे गये थे। परन्तु देखा गया कि उसके लम्बे केशों का एक अंश गले के काटे हुये स्थान में घुसा हुआ है। यदि वह बालक अब तक जीवित रहा होगा, तो उसकी आयु ग्यारह वर्ष की होगी।

(४) आप्तकाम, ज्ञानघन भगवान ही सेवा करने में समर्थ हैं। एवं वे ही सर्वदा अनन्त ब्रह्माण्डों में अनन्त कोटि जीवों की सेवा किया करते हैं। हम स्वार्थ-परायण, ज्ञानहीन लोगों में सेवा करने की सामर्थ्य कहाँ है ?

(५) अपनी प्रीति के लिये किसी को असुविधा में नहीं डालना चाहिये।

(६) जो कुछ भी है—सब चैतन्य समुद्र में विलीन कर दो।

(७) जो कुछ है-सब चित्तशक्ति का प्रकाश हैं।

(८) सब शरीर भगवान के पवित्र मन्दिर हैं।

(९) आवरण और विक्षेप दोनों को दूर करने के लिये नाम के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों का चिन्तन करना अत्यन्त आवश्यक है।

(१०) धैर्यहीन साधक के लिये सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

(११) कुयोगी कभी भी संसार तरु को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता।

(१२) राम-रावण के युद्ध में जिन राक्षसों ने प्राण त्यागे थे, मृत्यु से पहले उनके चित्त रामाकार रहने के कारण उन सभी को मुक्ति मिली थी। किन्तु वानर सैनिकों का चित्त मरते समय रावणाकार था इसलिये वे मुक्त नहीं हुये। अतः युद्ध के अन्त में जब इन्द्रिदेव ने अमृत वर्षा की मुक्त न होने के कारण सभी बानर तो जाग उठे, किन्तु राक्षसों में से किसी एक को भी पुनर्जीवन प्राप्त नहीं हुआ।

१६

ॐ

१—"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।" किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

२—परस्पर धर्मालाप करते हुए कुछ मित्र एक दिन सायंकाल में किसी पहाड़ी सड़क पर चल रहे थे। अचानक ही उनमें से एक युवक ने देखा कि पास ही झरने के समीप बैठे हुए एक वृद्ध को दूर से लक्ष्य करके एक शेर निःशब्द पैर रखता हुआ, जंगल की सड़क से उसकी ओर बढ़ रहा है। युवक के संकेत से जैसे ही वृद्ध ने स्थान छोड़ा कि

युवक के मन में यह संकल्प उठा इससे वृद्ध की जीवन रक्षा तो अवश्य हुई, किन्तु व्याघ्र को अपने शिकार से वंचित करके मैंने उसकी हिंसा ही की। अतः इस नाशवान देह के माँस और रक्त से सिंह की क्षुधा पिपासा की निवृति होनी चाहिये। यह सोचकर वह युवक वृद्ध के छोड़े हुये स्थान पर बैठ गया। शेर ने आकर उसे मुँह में लिया और चल दिया। क्षण भर में यह घटना घटी। कुछ समय बीतने पर स्थिर चित्त होकर युवक के साथ चलने वाले एक प्रौढ़ व्यक्ति ने धीरे-धीरे कहा, "भविष्य में शीघ्र ही जन्मान्तर लेकर यह युवक अवश्य बुद्धत्व प्राप्त करेगा।" प्रौढ़ की यह भविष्य वाणी निरंजना* के तट पर सत्य में परिणत हुई।

३—भगवान सर्वगत और सनातन हैं अतः सभी स्थान तीर्थ हैं और सभी काल धर्मोत्सव के पर्व हैं।

४—निस्त्रैगुण्य होने के लिये तैयारी करते हुये-ध्यान रखना, जड़ोपासक न बन जाओ।

५—दूसरों के दोष देखने और उनका प्रचार करने में हम लोग जितने व्यग्र होते हैं—उनके गुणों के ग्रहण तथा कीर्तन में उतना यत्न नहीं करते।

६—"तपः शौचं दया सत्यं"—धर्म के यह चार पाद हैं।

७—निषधराज नल का दोष देखने के लिये कलि सतर्कता के साथ बरह वर्ष तक उनके पीछे लगा रहा। इस दीर्घकाल

---

* निरंजना—गया जी के पास एक नदी जिसके तट पर एक वट-वृक्ष के नीचे बैठे साधना करते हुए गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया।

के पश्चात् एक दिन उसने देखा कि वे लघुशंका से निवृत्त होने के पश्चात् बिना पाद प्रक्षालन किये और बिना आचमन किये ही सन्ध्या वंदन में लग गये हैं, बस उसी समय उस सामान्य दोष का आश्रय करके वह कलि निषधराज के शरीर में प्रवेश कर गया।

८—लकड़ी, मिट्टी और पत्थर के आसन तपस्या के लिये अनुकूल नहीं होते।

९—रासमण्डल में प्रत्येक गोपी ने ही देखा कि पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण उसी के सामने विराजमान हैं और उसी के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

१०—सम्भव है प्राण-प्रयाण-काल में कफ, वात और पित्त के प्रकोप से भगवत्-स्मरण असम्भव हो जाये। अतः सामर्थ्य रहते हुये अभी उनका स्मरण क्यों न करूँ ?

११—अभिमानवश-बुद्धि की चंचलता से साधना के किसी विशेष पथ का अवलम्बन करने के लिये तैयार होकर ज्यों ही किसी विघ्न रूप छिद्र को जोर से बन्द करने लगता हूँ, कई बार ऐसा देखने में आता है कि कोई दूसरा विघ्न रूप पवन का प्रचण्ड प्रवाह और भी विशाल विवर खोलकर मेरे सम्पूर्ण गर्व-पूर्ण पुरुषार्थ को एक विचित्र अट्टहास के साथ व्यर्थ कर देता है, और मुझे बड़े वेग से धकेलता हुआ—मेरी आशा और कल्पना से भी अधिक अल्पकाल में मुझे उन्नति के उच्चतर शिखर के सुकोमल आसन पर अधिष्ठित कर देता है। मैं जितनी ही देखने की चेष्टा करता हूँ—पर्दे की आड़ में रहते हुये हमारे कर्म सूत्र के नियन्त्रित करने वाले विधाता की ओर जितनी ही दृष्टि

डालता हूँ, उतनी ही उन महाशक्ति की ज्ञानमयी, करुणा-मयी, रहस्यमयी लीला और उनके वैचित्र्यमय अद्‌भुत तत्व प्रकाशित होते हैं।

१२—धन और जन, विद्या और बुद्धि स्वाथ्य और शक्ति, द्रव्य और कर्म—ये सब वालू के बांध हैं;—इसके ऊपर निर्भर करने से क्या लाभ है ?

१३—'भगवान', 'भगवान' तो कहते हो किन्तु 'भगवान' कहने से क्या समझा जाता है—यह क्या कभी विचार किया है ? चिन्तन करके देखो, विचार करो—समझने की चेष्टा करो और समझकर श्रद्धासम्पन्न हो जाओ। ऐसा करने से वहुत सी समालोचनायें और कर्म-द्वार की अनेकों अर्गलायें दूर हो जायेंगी।

१४—कर्म के वाजार में जाकर अपने को न भूल जाओ, इसका ध्यान रखना।

१५—ठाकुर जी की पूजा करने के लिये तैयार होकर अपने पेट और अभिमान की पूजा न करने लगो—इसका ध्यान रखना।

१६—बच्चों की सुषुम्ना-नाड़ी में जब तक श्लेष्मा अधिक रहती है। तव तक वह, अच्छी तरह बात नहीं कर सकता।

कलकत्ता
१५ माघ, १३२३ (बंगाब्द)

१७

ॐ

१—सत्य और संयम, जप और विचार, गीत-प्रार्थना, ज्ञान-वैराग्य,-क्षमा और अहिंसा—इन सभी की पूर्णता मौन में में है, वाणी के मौन में नहीं, मन के मौन में।

२—मन के अतिरिक्त जगत कहाँ है, और जगत के अतिरिक्त मन कहाँ है ?

३—संकल्प का क्या फल है ? यह विचार कर सावधान हो जाओ।

४—"यामिन्या: पश्चिमे यामे, त्यक्त निद्रो हरिं स्मरेत्" (भजेत्) रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रा से जागकर हरिस्मरण करना चाहिये।

५—ब्राह्मण का धर्म है क्षमा।

६—मन ही मन असन्तुष्ट होना भी क्रोध है।

७—"सब ही मंगल मय का खेल है" एवं सर्वत्र ही उनकी पूजा करनी होगी,—सदैव यह स्मरण रखना होगा।

८—जब किसी के किसी भी कार्य से स्वयं क्षति-ग्रस्त होने का भय नहीं रहता, एवं जब हानि का बोध पूर्णतया मिट जाता है, तभी कहा जायेगा कि मेरी क्षमा-भावना अभ्यस्त हुई।

९—"तुमि आर आमि, माझे केह नाई, कौन बाधा नाई भुवने" तुम और हम हैं, बीच में और कोई बाधा नहीं है। अतः संसार में कुछ भी विघ्न नहीं हैं।

१०—आसक्ति ही असत्य का उत्पत्ति स्थान है।

११—अधिकतर हमारे कर्मों के मूल में रहता है—अनुचित स्वार्थ, संकीर्ण-दृष्टि और क्षुद्र स्वार्थ, किन्तु हम समाज को समझाना चाहते हैं कि हमने सब कर्म महान् उद्देश्य से तथा परार्थ या परमार्थ सिद्धि के लिये ही किये हैं।

१२—कभी "कर सकता हूँ" ऐसा अहंकार करता हूँ और कभी "नहीं कर सकता" ऐसा अहंकार करता हूँ।

१३—सब को सन्तुष्ट करना ही मेरा उद्देश्य या कर्तव्य नहीं है। भगवत-प्राप्ति ही मेरा लक्ष्य है। अतः भगवान की प्रीति के लिये ही सर्वदा कर्म करूँगा। उससे जगत चाहे सन्तुष्ट हो अथवा न हो।

१४—ब्रह्मविद्या सम्पूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठा है।

१५—There are more things in Heaven and Earth than are dreamt of in our philosophy" हमारे दर्शनशास्त्र में जिनका वर्णन किया है उनकी अपेक्षा स्वर्ग और भूलोक में बहुत अधिक वस्तुयें हैं।

१६—जगत तीन गुणों का ही विकास है।

१७—अपने विचार के अनुसार जब जैसी इच्छा हो स्वयं ही ऊँची श्रेणी में पढ़ने के लिये नहीं जा सकते। यथा समय प्रधान शिक्षक ही उच्चश्रेणी में जाने की स्वीकृति देंगे।

१८—दीनता के बिना भक्ति कहाँ ?

१९—"Plain Living and High Thinking" सादा जीवन और ऊँचा चिन्तन।

२०—विभिन्न युगोंके नियम भिन्न हैं। जैसी स्थिति वैसी व्यवस्था।

२१—जो समय भगवत्स्मरण में नहीं बीता, वह व्यर्थ ही व्यतीत हुआ।

२२—जगत को तुम जैसा दान दोगे, जगत से तुम्हें वैसा ही प्रतिदान मिलेगा।

२३—रामबाबू बड़ी मेज के एक कोने में छत्तरी रखकर एक लेख लिख रहे थे, उनकी स्त्री आकर छोटे लड़के को मेज पर बैठाकर चली गई, और जाते समय कह गई कि "ख्याल रखना बच्चा गिर न जाये।।" उस समय से रामबाबू का कुछ मन लिखने में और कुछ बच्चे में रहा।

बी. ए. परीक्षा हो रही है। यदु गणित के प्रश्न-पत्र का उत्तर लिख रहा है। उसके अध्यापक आकर एक ओर खड़े होकर लेख देखने लगे। यदु गणित का उत्तर भी लिख रहा हैं और जानता भी है कि अध्यापक पास खड़े देख रहे हैं।

कोई-कोई व्यक्ति तैल से भरा पात्र लेकर तैल रक्षा करने में ध्यान देकर भी शहर की प्रदक्षिणा और दर्शन कर सकते हैं। इसी तरह अभ्यास करने से हम तुम भी कर्म करते हुए भगवान को स्मरण कर सकते हैं।[1]

---

१. संन्यासी की कन्या की कहानी :—

एक प्रजारंजक राजा ने अपना प्रजा के अनुरोध से विवाह करना स्वीकार करके स्वेच्छा से एक सन्यासी द्वारा

एक सन्यासी की कन्या राजपत्नि होकर भी, अनेकों कार्य करते हुए भी—अपने स्वरूप को नहीं भूली। और इसी से अपनी अवस्था का इतना परिवर्तन हो जाने पर पर भी उसने शान्ति नहीं गँवाई।

२४—प्रेम शक्ति प्रदान करता है।

२५—संसार के बाजार में बन्धुत्व की जितनी अधिकता है, बन्धु के लिये आत्म-त्याग करने वाले उतने अधिक नहीं मिलते।

पालिता कन्या से विवाह किया। सन्यासी की लड़की राजरानी होकर अनेकों कर्मों में व्यस्त रहने पर भी प्रतिदिन निश्चित समय में एक एकान्त कमरे में चली जाती और वहाँ यत्न से रखे हुए सन्यासी पिता के दिये हुए मलिन एवं जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनकर विचार करतीं, "रे मन ! स्मरण रखना, मैं सन्यासी की पुत्री हूँ, मैं पहले जैसी थी, अब भी वैसी हूँ। इन आगन्तुक अनित्य विषयरूपी काँस के साथ मेरा कुछ भी सच्चा सम्बन्ध नहीं है। ध्यान रखना, ऐसा न हो कि अपना समझकर तू धोखा खा जाये।" समय पर रानी के एक कन्या जन्मी। प्रजाजन को आशा थी कि राजा के पुत्र होगा। किन्तु रानी ने कन्या प्रसव की। इससे राज्य में भविष्य में अमंगल होगा—ऐसी आशंका से इन्होंने कन्या की हत्या करने के लिये विद्रोह फैलाया। अपने कर्त्तव्य को पूरा करने के लिये राजा ने रानी के पास जाकर जैसे ही यह संवाद कहा। उसने प्रसन्न वदन से पति सेवा के अंग रूप से पालित वह कन्या किसी की धरोहर लौटाने के समान तुरन्त राजा को अर्पण करदी। इसके प्रायः बारह वर्ष पीछे रानी ने पुनः एक कन्या प्रसव की। फिर विद्रोह

हुआ। इस बार रानी के निर्वासन का ही निश्चय हुआ। रानी भी प्रसन्न चित्त से अपने पूर्व जीवन के अभ्यास अनुसार पुराने वस्त्रों को पहनकर वन में जाने को उद्यत हो गई। जाते समय वह कह गई कि यदि कभी सेवा के लिये आवश्यकता हो तो उसे सूचना देने में महाराज संकोच न करें। अब राजा के पुनर्विवाह की व्यवस्था हुई। इस कार्य में विशेष व्यवस्था के लिये राजा ने रानी को बुलाया। उस समय उसके अत्यन्त प्रसन्न मुख, प्रीति पूर्ण व्यवहार और सरल स्नेहपूर्ण दृष्टि से बहुतों के हृदय द्रवीभूत हो गये। किन्तु मुँह खोलकर कोई कुछ कह न सका। विवाह लग्न के समय अकस्मात् एक आदमी बड़े वेग आया और विवाह कार्य में विघ्न डालते हुए बोला, "यह विवाह नहीं हो सकता क्योंकि नव वधू राजा की ही कन्या है, उसकी हत्या नहीं की गई थी।" तब प्रजा ने प्रस्ताव किया कि पहले की रानी-माता को ही स्वीकार किया जाये। अतः सन्यासी को कन्या फिर राजरानी हुई। उसने कभी भी अपने स्वरूप को नहीं भूला था। इसी से अवस्थाओं का परिवर्तन होने पर भी वह तनिक भी विचलित नहीं हुई।

१८

ॐ

१—अच्छे नहीं हो सके, तो क्या बुरे हो जाना चाहिये ?

२—यदि आज ही श्रीबद्रीनाथ नहीं पहुँच सकते, तो क्या यहीं पर बैठे रहना चाहिये ? अतः आज जितना आगे जा सकूं क्या सड़क पर उतना ही आगे बढ़ना अच्छा नहीं है ?

३—मन में व्यर्थ-संकल्प-विकल्प उठाकर या दूसरे प्रकार से शक्ति और समय को नष्ट न करके जिस समय जितना सम्भव हो उतना करना ही क्या अच्छा नहीं है ?

४—भगवान ने साधन के लिये जितनी शक्ति और सुयोग दिये हैं, उनका सदुपयोग न करके अधिक शक्ति और सुयोग-प्राप्ति के लिये प्रार्थना करने का तुम्हारा क्या अधिकार है ?

५—भगवान का नाम सर्व-सिद्धि प्रद है।

६—मदिरा पीने से जैसे नशा चढ़ता है, नाम-जप करते हुये भी वैसा ही नशा होता है। जगत भूल जाता है और किसी एक अपूर्व आनन्द-रस से मन-प्राण आप्लुत हो जाते हैं।

७—एक समय ऐसा आता है जब नाम और रूप अभिन्न हो जाते हैं।

८—शिवाजी का बलराम नामक एक गुरु भाई था। वह शिक्षित नहीं था। साधन-भजन भी कुछ नहीं करता था, और न चरित्र सुधारने में ध्यान देता था। किन्तु वह अनन्य मन से केवल गुरु-सेवा में संलग्न रहता था। रामदास जी भी उस पर बहुत स्नेह रखते थे और उसकी सेवा से प्रसन्न थे। बलराम में बहुत से दोष रहने पर भी उसे गुरुदेव का अधिक स्नेह मिलने से उसके गुरु-भाई लोग उसके प्रति विद्वेष रखने लगे, और उसके प्रति सर्वत्र रामदास जी का क्रोध उत्पन्न कराने के लिये उन्होंने बहुत सी व्यर्थ चेष्टायें कीं। एक दिन बलराम की अनुपस्थिति में सुयोग पाकर एक व्यक्ति उसके घर में घुस गया। और जिस हमामदस्ते में स्वामी जी के लिये पान कूटा जाता था उसे उठा लाया स्वामी जी भोजन के लिये ही बैठे हैं, उसके बाद ही पान खायेंगे। अतः बलराम पान कूटने के लिये घर में घुसा। किन्तु वहाँ हमामदस्ता न मिलने से बड़े असमंजस में पड़ गया। अतः विवश हो उसने अपने मुँह से ही पान चबाया और स्वच्छन्द चित्त से गुरु जी के हाथ पर जूठा पान रख दिया। गुरुभाई, बलराम से इतने दुःसाहस की आशा नहीं रखते थे। वह सोचते थे कि हमामदस्ता (लोह कण्डनी) न मिलने से वह पान तैयार नहीं कर सकेगा। और उसके लिये उसे डाँट खानी पड़ेगी। किन्तु घटना उल्टी ही बनी। उस दिन का पान खाकर गुरु रामदास जी ने बलराम की प्रशंसा की। अब बलराम प्रतिदिन उसी प्रकार से पान बनाकर देने लगा। गुरु भाइयों ने जाकर शिवाजी से कहा, "बलराम प्रतिदिन एक अत्यन्त

अशुद्ध और मलिन पात्र में कुत्सित रीति से पान को कुचलकर गुरु जी को खाने को देता है।" इसके अगले दिन शिवाजी गुरुजी के आश्रम में आये और उसदिन सेवा का सब कार्य स्वयं करने के लिये गुरु जी से अनुमति ले ली। बलराम को कुछ भी करने नहीं दिया। एक नये बहुमूल्य हमामदस्ते में स्वयं पान को कूटा और भोजन के पश्चात् गुरु जी को दिया। और पूछा कि "आज नये हमामदस्ते में कूटा पान कैसा बना ? इसपर रामदास जी ने उत्तर दिया," बलराम के हमामदस्ता में पान अधिक स्वादिष्ट बनता हैं।" शिवाजी ने कहा, "वह अच्छा नहीं है, अपवित्र है, अतः अब आगे उसे व्यवहार में नहीं लाना चाहिये। तब दूसरे शिष्य बलराम को तंग करने की दृष्टि से बोल उठे," "अच्छा बलराम से उसका हमामदस्ता मंगाया जाय। अभी मालूम हो जायेगा कौन सा अच्छा है।" शिवाजी ने कहा, "अच्छा मँगाओ।" तुरन्त एक धूर्त्त शिष्य ने दौड़ते हुये जाकर बलराम से कहा, "गुरुजी तुम्हारा हमामदस्ता देखना चाहते हैं। अभी मुझे दो, तुम्हें वहाँ जाने की आज्ञा नहीं हैं।" बलराम बोला, "मेरा यह हमामदस्ता लो और इसे गुरुदेव के चरण-कमलों में अर्पण कर देना।" "जय गुरुदेव।" ऐसा कहकर उसने तुरन्त तीक्ष्ण तलवार से अपना सिर काट डाला–उस समय उसका मुँह खुला था–शिष्य ने वह सिर लाकर रामदास जो और शिवाजी के सामने रख दिया और बलराम की आत्म-हत्या का सब वृतान्त निवेदन किया। तब रामदास जो ने शिवाजो से पूछा, "बताओ कौन सा हमामदस्ता अच्छा है ?"

९—एक राजा थे। उन्हें कभी किसी ने क्रोध करते नहीं देखा। एक बार रानी की इच्छा हुई कि राजा की परीक्षा ली जाये। अतः उनकी शय्या बिछाने के लिये एक नौकरानी रखी गई। वह उत्तरोत्तर शय्या ठीक करने में अधिक उपेक्षा और शिथिलता करने लगी। किन्तु राजा ने कुछ भी नहीं कहा। जैसी शय्या मिलती, प्रसन्नता से उसी पर सो जाते। क्रमशः नौकरानी की अवहेलना चरम सीमा पर पहुँच गयी एक दिन राजा पलंग पर न सोकर बिना किसी शय्या के नीचे भूमि पर ही सो गये। रानी ने आकर भूमि पर सोने का कारण पूछा तो राजा ने जवाब दिया सम्भवतः नौकरानी को शय्या ठीक करने में असुविधा और कष्ट होता है। यदि मैं जमीन पर सोने का अभ्यास करूँ तो उसे कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा।

१०—तीन महीने बहुत उत्साह के साथ साधन किया, फिर दो महीने संसार में मस्त रहे, उसके पश्चात् चार महीने फिर साधन किया और पीछे एक महीना भगवान को स्मरण करने का भी समय नहीं मिला,—ऐसा करने से साधन में प्रगति नहीं होती।

११—धर्म अनुभव की वस्तु है—कल्पना की नहीं। अतः कल्पना की सहायता से सब प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

१२—गीता-ग्रन्थ जगत में अतुलनीय है। एक समग्र जीवन लगाकर भी यदि कोई गीता को ठीक-ठीक समझ सके तो उसका जन्म,-जीवन और चेष्टा सफल हैं।

१२—पिता-माता, बन्धु-बान्धव, साधारण व्यक्ति सब ही संसार के कीड़े हैं। तथा आसक्त चित्त और नीच बुद्धि वाले हैं, "मैं इन सबसे बहुत अच्छा हूँ और अच्छा समझता हूँ"—ऐसी भावनायें अच्छी नहीं हैं। विनय और शिष्टाचार की बड़े प्रयत्न से रक्षा करनी चाहिये।

१४—यौवन से पहले ही शरीर को दुःख सहन करने के योग्य बनाना चाहिये।

१५—नाम-जप करते हुये जो विघ्न उपस्थित होते हैं, साधारणतया नाम ही उन्हें नष्ट करने में समर्थ है।

१६—रात्रि के समय घर में दीपक का मन्द प्रकाश रखते हुए किन्हीं-किन्हीं को ध्यान का अभ्यास करने में सुविधा जान पड़ती है।

१७—सभी बातें, सब समय, सबके सामने नहीं कही जातीं।

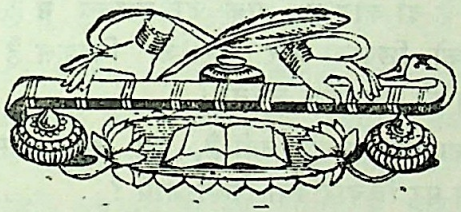

१९

ॐ

१—परस्पर अपरिचित दो गृहस्थी अपने बन्धुओं के कटु व्यवहार के कारण घर छोड़कर एक ही दिन एक गुरु की शरण में आये। दोनों को एक प्रकार की अशान्ति थी। दोनों का प्रश्न भी एक ही था। गुरुदेव ने दोनों को एक साथ ही, एक ही समय एक ही तत्वं का उपदेश दिया। उपदेश प्राप्त करके दोनों तपस्या के लिये गये। विश्व-जननी, महाशक्ति दोनों की ही उपास्य देवी थीं। एक ही काल में दोनों ने सिद्धि प्राप्त की, किन्तु सब ही अंशों में मेल रहने पर भी फल प्राप्ति में मेल नहीं रहा। क्षत्रिय सुरथ ने 'राज्य' प्राप्त किया और वैश्य समाधि ने 'मुक्ति' पाई।

२—माया के दो कार्य हैं:—एक जो वास्तव में है उस सत्य वस्तु को छिपाना और दूसरा जो बिल्कुल है नहीं उस असत्य को प्रकाशित करना।

३—जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसे लेकर उसके अच्छे बुरेपन पर विचार क्यों किया जाये ?

४—दृष्य-दोष नष्ट करने की चेष्टा करो।

५—सर्वदा भगवत्-स्मरण का एक मात्र उपाय है—अभ्यास योग।

६—आशा-वासना, संकल्प-कल्पना, विचार-विवेचन प्रभृति जितने प्रकार की भावनायें अन्तःकरण में उदित होती हैं, वे सब चैतन्य के ही विलास हैं—वे चैतन्य समुद्र में कुछ बुद-बुदेमात्र हैं। उनसब के प्रकाशित होते ही तुरन्त अनन्त, अखण्ड, महाचैतन्य में लीन करना चाहिये। इस प्रकार का प्रत्याहार ध्याननिष्ठ योगी के लिये अत्यन्त हितकारी है।

७—निःसंग हुये बिना साधना में अग्रसर होना कठिन है।

८—जीव व शिव के बीच में केवल एक ही पर्दा विद्यमान हैं, वह है—अभिमान। ब्रह्मध्यान, विचार व प्रार्थना आदि की सहायता से उसे हटाना होगा।

९—साधना का स्थान उपद्रव रहित होना आवश्यक है।

१०—दृष्टि तीन प्रकार की हैं—सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करना उत्तम दृष्टि; गुण दर्शन करना मध्य दृष्टि और दोष दर्शन करना अधम दृष्टि है।

११—धर्म की उत्पत्ति सत्य से, वृद्धि दया व दान से, स्थिति क्षमा से, तथा क्षति क्रोध से होती है।

१२—एक दिन एक मतवाले युवक ने बिना कारण क्रोधान्ध होकर एक वैष्णव पर प्रहार किया। वैष्णव ने शान्त और विनीत भाव से कहा, "हे कृपानिधान! मुझे क्षमा कीजिये, अब तक तो आप शान्ति व सुख अनुभव करते थे। मैं महापातकी अज्ञानवश आपके सामने आ गया इसी से ही मेरे पाप ने आपके अन्तकरण में क्रोध उत्पन्न करके अशान्ति उत्पन्न कर दी। यदि मैं आपके समक्ष न

आता तो आपको शान्ति नष्ट न होती। मैंने दुर्बुद्धि से आपको इतना कष्ट दिया। कृपा करके मुझे क्षमा करें।"

१३—यदि धर्म साधन को गुप्त रख सकोगे तो भगवान प्रसन्न होंगे, और यदि अभिमानवश उसका प्रकाश व प्रचार करते रहोगे, तो किसी-किसी मनुष्य को ही प्रसन्न कर सकोगे, और सम्भव है उनसे कुछ धन और मान भी प्राप्त कर सको, किन्तु भगवान का प्रीतिभाजन होना उससे सम्भव नहीं होगा। परन्तु इस प्रकार जो धन, मान प्राप्त होने की सम्भावना रहेगी, वे क्या सर्वदा बने रहेंगे या उनसे क्या तुम निश्चिन्त रह सकोगे ?

१४—कुछ साल पहले कनखल में अवधूत श्रीचेतनदेव जी की कुटिया में रहकर एक योगी तपस्या करते थे। योग के प्रभाव से उन्होंने दूरदर्शन और दूर श्रवण की शक्ति प्राप्त कर ली थी। किन्तु कोई-कोई साधक जिस प्रकार कुछ सिद्धि प्राप्त करते ही जीवन के लक्ष्य को भूल जाते हैं और उस सिद्धि के सामर्थ्य से धन एवं मानादिक उपार्जन करके एक प्रकार से सुख शान्तिपूर्वक सांसारिक जीवन व्यतीत करने लगते हैं, यह योगी ऐसे लोभ के अधीन नहीं हुये। ये दो सिद्धियाँ भविष्य में और भी अधिक प्राप्त करने की आशा और सम्भावना के कारण इन्हें साधन से च्युत नहीं कर सकीं यह भगवत्-दर्शन की अभिलाषा से तपस्या में नियुक्त रहे। किन्तु एक कठिनाई इनके सामने आ गई, समीप और दूर के इतने दृश्य इनके दृष्टिगोचर होने लगे और इतने शब्द और बातचीतें इनके कानों में आने लगीं कि साधन में मन को लगाये रखना इनके लिये कठिन हो

गया क्रमशः बढ़ते हुए चित्त-चांचल्य ने इन्हें अत्यन्त व्याकुल कर दिया। कोई और उपाय न सूझने पर एक दिन प्रख्यात संत से भेट कर इन्होंने उन्हें अपनी दुर्दशा की बातें बतलाई। संत ने इनकी सब अवस्था जानकर इन्हें अभयदान दिया और दूसरे घर से कुछ अपवित्र खाद्य वस्तु लाकर इन्हें खाने को दी। कुछ दिन तक वह अन्न खाने से योगी की बड़े परिश्रम से प्राप्त दोनों शक्तियाँ जाती रहीं–इस प्रकार शक्ति से रहित होकर वे निश्चिन्त हुये और अभक्ष्य-भक्षण का प्रभाव देखकर विस्मित हुए।

१५—मुख से कहता हूँ "मैं भगवान का दास हूँ।" किन्तु सेवा करता हूँ विषय की। मुँह से कहता हूँ "भगवान ही मेरा आश्रय है" किन्तु आवश्यकता होने पर निर्भर करता हूँ दूसरों पर, और दस दरवाजों पर भिक्षा मांगता फिरता हूँ। ऐसी अवस्था में कहाँ मेरी सरलता और कहाँ मेरा विश्वास ?

१६—तुम वास्तव में जैसे हो उससे अपने को बड़ा मानकर यदि जन समाज में अपना प्रचार करना चाहो तो सम्भव है कुछ एक व्यक्तियों को कुछ समय के लिये धोखा दे सको, किन्तु सबको नहीं। सभी की आँखों में धूल नहीं डाली जा सकती। जो विश्वतचक्षु हैं उनको तो बात ही क्या ? मनुष्यों से भी तुम पकड़े जाओगे।

१७—जितनी अधिक चिन्ता करोगे दुःख की, दुःखरूपता उतनी ही बढ़ेगी।

१८—विषय चिन्तन करने से ही विषय-वासना उत्पन्न होती है और चित्त की चंचलता बढती है।

१९—जो कर्म परोपकार यश-मान और धनादि के लोभ से किया जाता है वह भी हेय तो नहीं है, किन्तु कुछ उपादेय ही है। शान्ति-कामी साधक को चाहिये कि लोभ को सर्वतोभावेन परित्याग करने की चेष्टा करे।

२०—साधु-संग मोक्ष का मार्ग है और विषयी व्यक्ति का संग संसार का मार्ग है।

२१—भगवान में पूर्ण रूप से आत्म विसर्जन करने का नाम ही 'सन्यास' है।

२२—एक संत ने व्यंगपूर्वक कहा है "आलसी आदमी आधा वैराग्यवान और आधा सर्वज्ञ होता है।

निराकारी आश्रम, कनखल

२८-८-१९१७

२०

ॐ

१—यम-नियम के साथ चित्तप्रसाद लाभ करने के लिये साधक को इन चार बातों का अभ्यास करना आवश्यक है—(i) सर्व जीवों के प्रति मैत्री। (ii) दुःखियों के प्रति करुणा (iii) पुण्यवान के प्रति 'मुदिता' (iv) पापों के प्रति उपेक्षा।

२—ब्रह्म, पूर्ण अखण्ड और अंशहीन हैं। पूर्ण ब्रह्म ही प्रत्येक शरीर में बोल रहा है, प्रत्येक शरीर में सुन रहा है, प्रत्येक शरीर में कर्म कर रहा है और प्रत्येक शरीर में चिन्तन कर रहा है। प्रत्येक शरीर अखण्ड सच्चिदानन्द के शक्ति प्रकाशन का यन्त्रमात्र है। सर्वव्यापी ब्रह्म ही प्रत्येक शरीर में "मैं" "मैं" और "तुम" "तुम" कह रहा है। सब रूप पूर्णब्रह्म के ही रूप हैं। सब नाम पूर्णब्रह्म के नाम हैं। सब क्रियायें पूर्णब्रह्म की क्रियायें हैं, अतः जब, जिस ओर मन दौड़े उसमें तथा प्रत्येक नाम, प्रत्येक रूप कर्म और प्रत्येक भावमें पूर्णब्रह्म की धारणा करनेका प्रयत्न करो और अभ्याससे उस "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" पूर्णब्रह्म की धारणा को क्रमशः अधिक समय स्थिर रखने का प्रयत्न करो। ज्यों ही "मैं" "तुम" शब्दों के आश्रयसे अहंकार प्रभृति कोई भावना मनमें जागृत हो

त्यों ही उन शब्दों के द्वारा अखण्ड सच्चिदानन्दघन का ध्यान करने का यत्न करो। यही ध्यान निष्ठ होने का सबसे सुगम उपाय है।

३—शरीर की शक्ति नहीं है किन्तु शक्ति का ही शरीर है।

४—संसार के कारण हैं (१) अविद्या और (२) काम, ज्ञान और वैराग्य से इन्हें नष्ट करना होगा।

५—सूर्य के प्रकाश से जैसे कमल प्रस्फुटित होता है, वैसे ही ब्रह्म के प्रकाश से (जो नित्य प्रकाश है) प्रकृति देह, इन्द्रियाँ, वृक्ष-लता, प्रस्तर-मृत्तिका, आकाश-पथ ग्रह-उपग्रह रूप अनन्त कोटि जड़ सृष्टि स्प्रन्दित और परि-चालित, अथवा सृष्ट और विनष्ट होती है।

६—एक अवस्था में मन जिसे लीला कहता है, दूसरी अवस्था में उसे ही वह माया कहता है। ये दो नहीं हैं। वास्तव में वस्तु एक ही है। जिससे दोनों प्रकार देखा जा सके, ऐसी ऐनक लेने से क्या हानि है ?

७—वस्तु एक ही है, जो जिस ओर दृष्टि डालता है, वह उस ओर की ही बातें कहता है। एक सम्प्रदाय के लोग कहते हैं "द्वैत"। दूसरे कहते हैं "अद्वैत" और एक अन्य सम्प्रदाय वाले कहते हैं "द्वैताद्वैत" तथा और भी न जाने क्या क्या।

८—"द्वैतवाद" 'विशिष्टाद्वैतवाद" और "अद्वैतवाद प्रभृति वादों को लेकर दर्शन शास्त्रों में जो वाद-विवाद होते हैं। उनकी भी सार्थकता और आवश्यकता है।

९—जिसे मन्द कर्म कहते हो उसके द्वारा भी जीव साधनपथ में आगे बढ़ रहा है।

१०—कष्ट सहन करने में अभ्यस्त और देह की ममता बहुत कम हुए बिना ज्ञाननिष्ठा होनी कठिन है।

११—शरीर की अस्वस्थता और आवश्यक कर्म करते समय भी स्मरण-मनन आदि करने का प्रयत्न करो। किसी समय में भी भगवान का विस्मरण होना ठीक नहीं है।

१२—जिस मुहूर्त में विषय चिन्तन में मग्न होते हो, यदि उसी समय मृत्यु आ जाये ? अतः सावधान रहो।

१३—भोग रहते हुए रोग भी रहेगा तथा देह रहते हुए मृत्यु भी रहेगी।

१४—नल, राम, हरिश्चन्द्र और युधिष्ठर ये भी दुःख या कष्ट से बच नहीं सके।

१५—जितना शान्त मन से सहन करने का अभ्यास करोगे उतना ही दुःख का दुःखत्व कम हो जायेगा; और जितना दुःख से भयमानते रहोगे उतना ही दुःख का दुःखत्व बढ़ेगा असहिष्णु के लिये शान्ति दुष्प्राप्य है।

१६—साधारण व्यक्ति के साधन के लिये ऊनी आसन ही उपयोगी है।

१७—कौन जानता था कि शौच-क्रिया से बचे जल को आम्र वृक्ष के नीचे डालने से ही तुलसीदासजी महावीरजी की कृपा प्राप्त कर लेंगे।

१८—एक व्यक्ति को यह वरदान प्राप्त हो गया कि उसके मन में जब जैसी इच्छा उदय होगी उस समय वही वस्तु उसके सामने आ जायेगी। वासना का भला क्या अन्त है ? राज्य-ऐश्वर्य, धन-जन, गाड़ी-घोड़ा जब जैसा मन में फुरा वही सामने आकर उपस्थित हो गया। अब तो वह आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा। अन्त में उसे आखेट खेलने की इच्छा हुई। बस ज्यों उसके मन में सिंह का स्फुरण हुआ कि उसी समय एक शेर आया और उसे मुँह में उठाकर बन में चला गया।

१९—सब बुद्धि के ही दास हैं। बुद्धि किसकी दासी है ?

२०—हमारे प्रत्येक मुहूर्त के कर्म में हमारे आगामी मुहूर्त्त का जीवन नियन्त्रित होना है।

२१—संसार में भला गम्भीरता कहाँ है ?

२२—तपस्या और इन्द्रियनिग्रह के बिना केवल शास्त्राध्ययन से बुद्धिमान मनुष्य को भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

२३—अध्यापन के बिना अध्ययन पूर्ण नहीं होता।

२४—सीताहरण के पश्चात् ही रामजी ने लक्ष्मण से प्रश्न किया कि धर्म ने सीता की रक्षा क्यों नहीं की ?

२५—भगवान जिस पर कृपा करते हैं उसपर बहुत बार भीषण परीक्षा का कठोर वज्राघात किया करते हैं।

२६—लोभ और यश की इच्छा को सर्वथा छोड़ना बहुत ही कठिन है।

२७—विचार और संयम की सहायता से अपने चरित्र का मल नष्ट करना होगा।

२८—अभिमानी जीव दूसरों के सामने बुद्धि से छोटा बनना नहीं चाहता।

२९—संसार में क्या अच्छा है, क्या बुरा ?

३०—स्वार्थपरायण व्यक्ति को अध्यात्म जगत का पथ प्रदर्शक नहीं बनना चाहिये।

३१—जिसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार रखना हो, पहले एकबार उसकी स्थिति में अपने को रखकर उसकी अवस्था और सुविधा-असुविधाओं का विचार कर लेना चाहिये।

३२—एक व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य से कोई काम करता है, किन्तु इस समालोचक अपने भिन्न-भिन्न मन के अनुसार उसकी अलग-अलग व्याख्यायें करके बिना माँगे ही उसके ऊपर निन्दा और प्रशंसा की झड़ी लगा देते हैं।

३३—अतीत की स्मृति बहुत समय मोहनी-मूर्ति धारण करके हमें आकर्षित करती हैं। किन्तु साधक का कर्त्तव्य है कि अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसे दूर कर दे। उन्हें तुम जितना अधिक आश्रय दोगे वह उतना ही अधिक बढ़ेगी।

३४—जिस विषय का जितना कम चिन्तन करोगे। उसके प्रति उतनी ही कम आसक्ति होगी तथा जिस विषय का जितना अधिक चिन्तन करोगे उसके प्रति उतनी ही अधिक आसक्ति बढ़ेगी।

३५—समाज की समालोचना को शान्त मन से सहन करने का अभ्यास करो। आसक्ति और विद्वेष त्यागकर उदासीनता का आश्रय लो।

३६—जो मार्ग तुम्हें प्रिय है उसमें ही सबको प्रवृत करना मत चाहो ।

३७—संग्राम के समय जैसे वीर क्षत्रिय को उल्लास होता है, वैसे ही भयंकर विघ्न उपस्थित होने पर भी साधक उत्साह के साथ साधन-समर में प्रवृत रहता है ।

२१

ॐ

१—सद्ग्रन्थों को केवल जल्दी-जल्दी पड़ लेने से ही लाभ नहीं होता; उन्हें धीरे-धीरे तात्पर्य समझते हुए पढ़ना चाहिये, पढ़कर चिन्तन करना चाहिये एवं उससे प्राप्त आलोक द्वारा यथासम्भव जीवन को नियन्त्रित करना चाहिये ।

२—एक दिन राजा बिम्बसार ने 'सिद्धार्थ' को (बुद्धदेव को) द्वार-द्वार पर भिक्षा करते देखकर 'कहा—"आप ! राजपुत्र हो, राजकार्य ही आपके योग्य है । सन्यास और भिक्षा-वृत्ति आपके योग्य नहीं हैं । मैं अपने राज्य का आधा भाग आपको प्रदान करता हूँ । आप बड़े आनन्द से उसे भोगिये ।" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—"मैं मिट्टी का राज्य नहीं चाहता, ज्ञान का राज्य चाहता हूँ ।"

३—घट के छूट जाने से घटाकाश की क्या हानि ? इसी प्रकार शरीर नष्ट होने से शरीर की क्या हानि ?

४—एक दिन धन कुबेर, महाधनाढ्य, रामदुलाल सरकार बरांडे में बैठे मुँह धो रहे थे; उस समय एक वृद्ध ब्राह्मण ने समीप की सड़क पर चलते हुए देखा कि पास ही सड़क के किनारे एक पक्षी की सड़ी हुई लाश पड़ी है और हजारों चींटियां उसके छोटे-छोटे कण खींचकर ले जा रही हैं। ब्राह्मण ने रामदुलाल से पूछा, "यह क्या है ?" रामदुलाल ने उत्तर दिया—"मरा हुआ कबूतर है।" वृद्ध तीक्ष्ण स्वर से बोल उठा, "अच्छा ! यह मरा हुआ है, इसके कारण हजारों भूखे जीवों को आहार मिल रहा है, यह हुआ मुर्दा।' और तुम धनकुबेर होने पर भी दुःख में उदासीन रहकर बरांडे में बैठे आराम से मुँह धो रहे हो—तुम जिन्दा हो ? ब्राह्मण चले गये। बस, उसी दिन से रामदुलाल के धन का अटूट भण्डार अनाथ व दीन-दुखियों के हित में व्यय होने लगा।

५—साधारणतः दानपरायण, सेवापरायण या परोपकारी होने की अपेक्षा सत् और न्यायपरायण होना अत्यधिक कठिन है और यदि न्यायनिष्ठ न बन सको तो नैतिक जीवन भी कभी सुप्रतिष्ठित नहीं होता; आध्यात्मिकता तो और भी कुछ दूर की बात रही।

६—रात्रि का शेष प्रहर सच्चिन्तन में व्यतीत करने से कल्याण होता है।

७—'स्थान—माहात्म्य', 'जल-माहात्म्य' और 'साधु-माहात्म्य' —इन तीनों को मिलाकर तीर्थ-माहात्म्य होता है।

८—'शुभ' और 'अशुभ' इन दोनों को लेकर ही संसार है। संसार से पार जाना हो, तो सदैव अशुभ को त्यागकर शुभ को ग्रहण करना होगा। केवल शुभकर्म ही करना चाहिये और वह भी अच्छी तरह, जितनी अच्छी तरह करना तुम्हारे लिये सम्भव हो।

९—मन न रहा तो जगत कहाँ ? और जगत नहीं रहा हो तो मन भी कहाँ ?

१०—मन और जगत में भिन्नता क्या है ?

११—कोई अच्छा हो भी तो तुम्हें क्या, और कोई बुरा हो तो भी तुम्हें क्या ?

१२—तुम्हारी बड़ी कन्या 'बुद्धि' अब युवती हो गई है; भगवान श्रीकृष्ण के साथ उसका पाणिग्रहण क्यों नहीं करा देते हो ?

१३—"जगत मिथ्या है" यदि यह भावना जागृत हो, तो फिर शोक-दुःख का अवसर कहाँ ?

१४—यदि तुम्हें हानि का बोध न हो तो कोई हजारों प्रयत्न करने पर भी तुम्हारी हानि नहीं कर सकेगा।

१५—जैसा मैं हूँ, वैसा ही मेरा जगत है। फिर, ठीक जगत कैसा है ?

१६—जैसा मन है, वैसा ही भगवान है ! सच्चा भगवान कैसा है ?

१७—प्रकृति का ही संसार, प्रकृति का ही साधन और प्रकृति की ही मुक्ति है।

१८—संसार भी माया, साधन भी माया, मुक्ति भी माया है।

१९—मैं 'दूसरों' को जान सकता हूँ, किन्तु मैं अपने को किस तरह जानूँ !

२०—"A barking dog seldom bites."
(भौंकने वाला कुत्ता कदाचित् ही काटता है।)

२१—जब "जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है"—जप कर रहे हो, तब भी तुम्हारे लिये जगत् मिथ्या नहीं हुआ।

२२—जब तक एक भी इन्द्रिय अवशीकृत रहेगी तब तक अशान्ति नहीं मिटेगी।

२३—दुकान की पकाई हुई खाद्य-वस्तुयें तथा बड़े-बड़े भण्डारों के निमन्त्रण—जितना न खा सको उतना ही अच्छा है।

२४—हम जो कुछ मुख से खाते हैं, केवल वही आहार 'आहार' नहीं है; समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है और मन से जो कुछ चिन्तन किया जाता है—वह सभी 'आहार'-शब्द-वाच्य हैं। सभी प्रकार का आहार शुद्ध होना आवश्यक है।

२५—योग्य चिकित्सक द्वारा, योग्य उपाय से, योग्य काल तक चिकित्सा की जाने पर भी जिस रोग का उपशम नहीं होता, उसके प्रतीकारार्थ शास्त्रों में प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है।

२६—यदि भगवान की इच्छा से ही ये सब अभिनय करने पड़ते हैं तो फिर हम इस ढंग से अभिनय क्यों न करते रहें जिससे 'उन्हें' सन्तोष हो और परिणामस्वरूप, प्रसन्नता से वे तुम्हें मुक्ति दे दें।

२२

ॐ

१—श्रीरामचन्द्रजी ने कहा था, समझलेने पर जो समझा जाता है, वही मैं समझा हूँ।

२—अस्तित्व सर्वत्र ही समान व एक है। केवल प्रकाश में भिन्नता है।

३—एक घर में चार द्वार हैं। प्रत्येक द्वार के पीछे ही सम्पूर्ण घर है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक मूर्ति के, प्रत्येक वस्तु के अन्तराल में पूर्णत्व ही है—पूर्ण ब्रह्म विद्यमान हैं।

४—'अहंकार' का अर्थ है—'क्षुद्रता'। इस शरीर ने यह कर्म किया है, अन्य शरीर ने नहीं यह शरीर इसे जानता है, अन्य वे सब शरीर नहीं जानते, 'इस साढ़े तीन हाथ वाले शरीरके भीतर मैं सीमाबद्ध हूँ, अन्य, कोई भी शरीर मैं नहीं हूँ'—यही तो अभिमान है। छोटी-सी दीवार के अन्दर अपने को आबद्ध न रखकर जब तुम व्यापक होंगे-अपने को सर्वगत एवं सर्वाधार समझोगे, तब फिर और भेद, ज्ञान व अहंकार नहीं रहेंगे।

५—यह संसार क्या है,—इसे पहिले समझने की चेष्टा करो; पीछे वैराग्य का अभ्यास करो।

६—प्रत्येक विषय ही तप्त तथा उज्ज्वल एक लौह पिण्ड है। रूप से मोहित चित्त होकर, स्नेह के आकर्षण से, प्रवृत्ति

के वेग से या शान्ति की आशा से जिसे भी आलिंगन करोगे, वही तुम्हारे हृदय को दग्ध करके विषमय-यातनामय (घाव) क्षत उत्पन्न कर देगा।

७—मानस क्षेत्र में वासना का सामान्य अवशेष भी परिणाम में न्यग्रोध (पीपल) वृक्ष की भाँति भयावह वन को उत्पन्न कर सकता है।

८—वासना ही चित्त का मल है। बिना चित्त-शुद्धि के ज्ञान की सम्भावना कहाँ है ?

९—'शान्तिपुर' में जाने के लिये चार सेतुओं पर से पार होना पड़ता है—क्षमा, दान, सत्य व अहिंसा।

१०—देखने में और सुनने में बहुत भेद है।

११—स्थान-तीर्थ-जन-तीर्थ-भाव-तीर्थ।

१२—श्रद्धाहीन व्यक्ति को उपदेश मत दो।

१३—अनावश्यक चिन्तन, अनावश्यक बातें तथा अनावश्यक अंग-संचालन का परित्याग करो।

१४—भाव रहित पाठ से स्वाध्याय का फल नहीं मिलता।

१५—विशेष कारण के बिना अपने अतीत जीवन की आलोचना नहीं करनी चाहिये।

१६—जबतक धर्मलाभ की आवश्यकता का बोध न हो, तब तक साधन में तत्परता नहीं होती।

१७—हम आदि और अन्त न देखकर केवल मध्यभाग को ही देखते हैं, इसीलिये जीवन में इतनी विशृङ्खलता पैदा हुई है।

१८—आलोक व अन्धकार, ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।

१९—अंधेरे घर में जैसे ही दियासलाई जलाई कि घर प्रकाश-मय हो गया। घर का वह अन्धकार भागकर कहाँ गया?

२०—यदि तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को उपयुक्त रीति से सुसम्पन्न करोगे, तो स्वयं भी लाभ उठाओगे, एवं समाज का भी कल्याण होगा।

२१—यदि तुम्हारे कर्त्तव्य-सम्पादन में किसी प्रकार की त्रुटि होगी, तो उससे केवल तुम्हारी ही क्षति नहीं होगी, अपितु सारे समाज की भी हानि होगी।

२२—व्यर्थ का कुतूहल छोड़ दो।

२३—प्रवृति की अधीनता ही पराधीनता है, भगवान की अधीनता ही स्वाधीनता है।

२४—विषयों के साथ इन्द्रियों का जितना कम सम्बन्ध होगा, उतना ही मंगल होता है।

२५—साधन करते हुए, भगवद्भाव की विशेष प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पुष्टि करनी चाहिये। ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये जिससे उस पर कोई आघात लग सके।

२६—सात्विक-भोजन की विशेष आवश्यकता है। केवल आहार की ही क्यों, आहार-विहार, वेष-भूषा, चिन्तन व कर्म में भी सदा सात्विकता की वृद्धि के लिये चेष्टा करनी चाहिये।

२७—जो वस्तु दान करो, उसके साथ सारा सम्बन्ध, दान के साथ ही साथ पूर्णतया परित्याग कर देना होगा।

२८—यम-नियम की उपेक्षा करके योग में सिद्धि प्राप्त नहीं नहीं की जा सकती।

२९—साधक को पूर्णरूप से निरपेक्ष होना चाहिये।

३०—किसी अन्य की अपेक्षा रखनी, किसी अन्य के मन का अनुसरण करना, किसी की चापलूसी की या किसी को सन्तुष्ट रखने की आवश्यकता अनुभव करना—ये सभी साधन में विघ्नरूप हैं।

३१—दीनता उन्नति का परिचायक है।

३२—निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा को पचाना अधिक कठिन है।

३३—लोगों में अच्छा आदमी कहलाने की—(लोगों से) प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा धर्मलाभ में एक बड़ी बाधा है।

३४—तुम जिस औषधि का सेवन करते हो संसार में सभी मनुष्यों के लिये उसी की व्यवस्था नहीं करनी चाहिये। और ऐसा भी ख्याल मत करना कि तुम जिस रोग के शिकार बने हो, उसी ने सब पर आक्रमण किया है।

३५—यदि दया से हृदय द्रवीभूत न हो, यदि परोपकार के लिये प्राण आकर्षित न हों तो साधना से क्या लाभ है ?

२३

ॐ

(१) समुद्र का खारा जल साधारण मनुष्यों के लिये विशेष लाभदायक नहीं है। बहुतों के लिये तो वह सुप्राप्य भी नहीं होता। जो समुद्र तटवर्ती हैं उनके लिये भी पान भोजनादि क्रियाओं में तथा भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से भी वह व्यवहार के योग्य नहीं होता। किन्तु सूर्य नारायण के प्रबल आकर्षण द्वारा जब वह लवण रूप अपवित्र अंश का परित्याग कर ऊपर चढ़कर फिर पृथ्वी पर उतर आता है तब वह केवल समुद्र तट वासियों के पास ही नहीं पहुंचता अपितु उसकी अत्यन्त शीतल धारा सर्वत्र बरस कर खाई-खेती कूप-तडाग आदि सभी को भर देती है। पृथ्वी को शक्तिशाली बनाती है। और जनसमूह के स्नान, पान आदि कार्यों को सुसम्पन्न कर अपना जीवन-नाम सार्थक करती है। मनुष्य भी ऐसा ही है। अशुद्ध चित्त व्यक्ति अभिमान से जो भी कर्म करता है उसके द्वारा संसार का विशेष उपकार नहीं होता। किन्तु भगवत्कृपा से जब वह स्वार्थ रहित और भेद बुद्धि रहित होता है तभी जगत का उससे सच्चा कल्याण होता है।

(२) जिन कर्म फलों के विषय में लोग आलोचना करते हैं जैसे कि चोरी करने से कारादण्ड होना,—यह कर्म का गौण फल मात्र हैं। इसके अतिरिक्त कर्म का मुख्य फल भी है। सम्पूर्ण कर्म मन के ही कार्य हैं; उनमें से कोई-कोई तो

केवल शरीर द्वारा बाहर प्रकाशित होता है। ज्यों ही तुम मन से कोई कर्म करते हो उसी क्षण उस कर्म के अनुसार तुम कुछ उन्नत या अवनत भी हो जाते हो। जिस मुहूर्त में तुमने कोई सत्-चिन्तन किया उसी क्षण कुछ ऊंचे चढ़े, और फिर मन में कुचिन्तन उठते हो, उसके साथ-साथ नीचे गिर जाते हो। इसलिये जो जितना पवित्र चिन्तन करेगा, वह उतना ही ऊँचा चढ़ेगा। तथा जिसका मन जितना ही अपवित्र रहेगा वह उतना ही अधोगामी होगा। जैसा भाव वैसा ही लाभ होगा। संसार के लोग समझ सकें, या न समझ सकें, तुम्हारा उत्थान-पतन पूर्णतया तुम्हारे मानसिक चिन्तन पर निर्भर करता है। साधारण परीक्षा से मालूम हो जाता है कि नीति विरुद्ध चिन्तन से मन का तेज कम हो जाता है। और पवित्र चिन्तन द्वारा तेज एवं वीर्य की वृद्धि होती है।

(३) केवल 'राम' व 'शान्ति काम' के बीच अपना-अपना स्वत्वनिर्णय के लिये अभियोग चला। परिणाम में सारी जमींदारी ही केवल राम की हो गई। शान्ति-काम जब तक जीवित रहेगा तब तक उसे केवल स्मरण मनन और कीर्त्तन का अधिकार रहेगा ऐसी आज्ञा हुई।

(४) आत्म-समर्पण अथवा सर्वत्र ब्रह्म दर्शन का अभ्यास करते हुए ऐसी एक अवस्था आती है जबकि साधक का मन संसार से उपरत होकर शुद्ध-अद्वैत तत्त्व में स्थिर हो जाता है।

(५) बहुत लोग आत्म समर्पण के नाम से भगवान के कर्तृत्व की दुहाई देते हुए अपनी आसक्ति की पूर्त्ति करते हैं। अन्त में ऐसे लोग भी उन्नति कर सकते हैं यदि उनका विश्वास दृढ़ रहा तो।

(६) हे भगवन् ! मेरा शरीर मन स्थिति और बन्धु-बान्धव यह सारा संसार ही मानो साधन के विरोधी हैं। मुझ में कोई सद्गुण या अवलम्बन नहीं है जिसके बल पर मैं तुम्हारी कृपा का दावा कर सकूं। परन्तु एकमात्र भरोसा है कि तुम पतित पावन और अहैतुक कृपासिन्धु हो।

(७) यदि किसी शरीर के प्रति विद्वेष हो तो उसके हृदय में अपनी इष्ट मूर्ति का प्रेममय सिंहासन स्थापित करो। पवित्रता से अपवित्रता को और प्रेम से विद्वेष को जीत लो।

ॐ

२४

ॐ

(१) "तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।" हे भारत ! अर्थात् भरत वंश में उत्पन्न हे अर्जुन ! समस्त भावनाओं से उन परमेश्वर की शरण ग्रहण करो।

(२) जितने अधिक समय सम्भव हो ब्रह्म ध्यान करो। जब ध्यान न कर सको, तब अध्यात्म शास्त्र का चिन्तन और विचार करो। शास्त्र चिन्तन भी सम्भव न हो तो जप करो। जब जप भी अच्छा न लगे, अथवा जप में मन एकाग्र न हो एवं चित्त चंचल होने लगे, तब शास्त्रानुसार तीर्थ भ्रमण और सामर्थ्यानुसार जीव सेवा करना उचित है। किन्त यह व्यवस्था सबके लिये नहीं है।

(३) कभी-कभी निम्नोक्त प्रकार से साधना करो :—

"नियमपूर्वक, स्थिर आसन से बैठ जाओ। योगवाशिष्ठ के वशिष्ठ की न्याई—बन्दूक से छोड़ी हुई गोली की तरह कल्पना द्वारा क्रमशः ऊँचे-ऊँचे चढ़ते जाओ। अब तुम शरीर का अपरांश छोड़कर मस्तक में प्रवेश करो, सहस्रार में उठो, और ब्रह्मरन्ध्र भेदन करके आकाश में जाओ, चन्द्रलोक, सूर्यलोक, नक्षत्रलोक को भी छोड़कर आगे बढो—इस प्रकार जब ब्रह्माण्ड खर्पर भेदन करो तब महाकाश देखने में आवेगा—अगणित ब्रह्माण्ड–महासागर में बुदबुदों की भाँति उठते हैं, खेलते और विलीन होते दिखाई देंगे, और भी ऊपर चढ़ें, बहुत ऊँचे चढ़ जायें–वहाँ पर ब्रह्माण्ड भी नहीं है–सृष्टि नहीं है–कुछ कहने योग्य नहीं है। वहाँ है—केवल एक सत्ता एक अखण्ड ज्योतिः—एक शुद्ध चैतन्य—एक समरसशान्ति—एक परिपूर्ण ब्रह्म। तुम वही हो।

(४) जब ध्यान के लिये आसन पर बैठो तब सब प्रकार का अंगसंचालन आदि पूर्णतया परित्याग कर स्थिर रहो।

(५) शरद्-ऋतु योग्य समय नहीं है न। इसलिये शारदीयमहोत्सव में बोधन की आवश्यकता होती है। बिल्व वृक्ष के मूल में माता महाशक्ति का बोधन अर्थात् जागरण करो, अथवा माता कुण्डलिनी के जागरण के लिये साधन करो। बोधन के पश्चात् विश्वजननी, विभिन्न वर्षों में पुत्र कन्या सहित विभिन्न वाहनों द्वारा हिमालय के शिखर पर उपस्थित होती हैं :—अर्थात् कुण्डलिनी विभिन्न समय में, विभिन्न आधार में विभिन्न गति से शक्ति व सिद्धि, विद्या व ऐश्वर्य के साथ ऊपर

चढ़ती हुई शान्ति निलय सहस्रार में पहुँच जाती है। तीन दिन पीछे विजया है—माता आनन्दमयी का अपने स्थान पर लौटना (अर्थात्) योग्य काल के व्यतीत होने पर आनन्द की तरंगे उत्पन्न करती हुई महाशक्ति कुण्डलिनी साधक को अमरत्व प्रदान करके विश्वविजयी बनाकर पुनः फिर विभिन्न गति से मूलाधार में गमन करती है।

(६) विश्व जननी महाशक्ति हिमालय की कन्या हैं। ऋषि मुनियों से सेवित हिमालय में जन्म लिया है अर्थात् वहाँ आविर्भूत एवं प्रकाशित हुई हैं। तपस्या से ही विश्व-जननी की कृपा प्राप्त की जाती है।

(७) महामाया समय-समय पर भिन्न-भिन्न आधार में भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि प्रदान करती हैं। उस समय वही आधार, उसी बुद्धि के अनुसार शुभाशुभ का निर्णय करती हैं। इसलिये समय जो तुम्हारे लिये शुभ है, वही इस समय मेरे लिये और कालान्तर में तुम्हारे अपने लिये अशुभ जान पड़ता है वास्तव में तो शुभ क्या और अशुभ भी क्या ?

(८) बुद्धि तो आसक्ति की खरीदी हुई दासी है, फिर भला उसकी शक्ति ही क्या है ?

(९) जिस बुद्धि के कारण आज दम्भ करता हूँ, सम्भवतः उसी के कारण कल अनुतप्त होऊँगा।

(१०) दूसरे का उपकार यदि न भी कर सको तो यथासम्भव उसका अपकार न करने की अथवा उसे असुविधा न पहुँचाने की चेष्टा न करना।

(११) जिसका उपकार करोगे उसे उसको जताने के लिये समझाने के लिये और उससे कृतज्ञता प्राप्त करने के लिये व्याकुल मत होओ।

(१२) विभीषण के वेष में अहिरावण को भाँति धर्म का वेष पहिनकर आसक्ति तुम्हें फँसा न ले।

(१३) चाहे तुम कुछ भी करो, उससे भी तुम्हें निन्दा और प्रशंसा दोनों ही मिलेंगी। तो फिर व्यर्थ लोकमत की ओर क्यों दृष्टि डालते हो? और शुभ छोड़कर अशुभ क्यों करते हो?

(१४) प्रकृति के अनुसार प्रीति में भी भेद होता है।

(१५) राजस्थान में और सम्भवतः उदयपुर राज्य के 'नाथद्वारा' में भगवान श्रीनाथजी हैं। उनके प्रतिदिन के भोग सेवा के लिये एक हजार रुपये खर्च किये जाते हैं। प्रायः सौ वर्ष पहिले की बात है। उस समय भी श्रीनाथजी अपने प्रधान सेवायत के साथ बात-चीत करते थे। विधाता का क्या खेल है? उस समय एक मुसलमान की इच्छा हुई कि वह श्रीनाथजी के दर्शन करें। परन्तु वह तो मुसलमान था। (अतः) उसकी इस असम्भव आशा की पूर्ण होने की सम्भावना कहाँ थी। मन्दिर में प्रवेश करना उसके लिये निषिद्ध था और श्री ठाकुरजी को भी कभी मन्दिर के बाहर नहीं लाया जाता था। तो क्या तीव्र वासना क्या विरोधी मुक्ति की कुछ परवाह करती है? उस मुसलमान को कोई अन्य उपाय न सूझने पर उसने अनशन व्रत आरम्भ कर दिया। जब तक श्रीठाकुरजी का दर्शन नहीं होगा तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। भले ही मेरी मृत्यु हो जाए। श्रीनाथजी अब क्या करें? अन्त में एक दिन बाध्य होकर रात्रि के समय मुसलमान के सम्मुख प्रकट हुए। और प्रकट भी कुछ ऐसे ही नहीं हुए। वहाँ का

नियम है कि रात्रि में (कुहड़ों) काशीफल के समान मोटे दो बढ़िया लड्डू श्रीठाकुरजी के सामने रखकर रात्रि में मन्दिर का द्वार बन्द किया जाता हैं। प्रातःकाल होने पर पण्डा लोग उन लड्डुओं को आपस में बाँट लेते हैं। श्रीनाथजी उनमें से एक लड्डू लेकर अपने भक्त को दर्शन देने के लिये आये। दोनों ने खूब आमोद-प्रमोद किया और एक साथ मिल-जुल कर लड्डू भी खाया फिर मुँह पोंछते हुए श्रीठाकुरजी ने मन्दिर में प्रवेश किया और पूर्णतया निर्दोष व्यक्ति की भांति अपने स्थान पर खड़े हो गए। सबेरे प्रधान पुजारी आया। उसे बहुत खोजने पर भी वह लड्डू न मिला। वह बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। बहुत खोजने पर उसे इसका कोई कारण भी मालूम नहीं हुआ। अन्त में निरूपाय होकर उसने दूसरे कार्यों में ध्यान दिया। दूसरे दिन भी वही हाल हुआ। सेवायत (प्रधान पुजारी) ने संकल्प किया कि आज रात को वह स्वयं ही मन्दिर के द्वार पर पहरा देगा। तदनुसार आने वाली रात्रि में पण्डाजी मन्दिर द्वार पर बैठे रहे। फिर रात्रि के शेष पहर में उन्होंने देखा कि श्रीनाथजी मुँह पोंछते आ रहे हैं।

पण्डा ने पूछा—कहाँ गये थे ?

श्रीठाकुर जी ने उत्तर दिया—जिस मुसलमान ने मेरे दर्शन की इच्छा प्रकट की थी और जिसे तुमने मन्दिर में प्रवेश करने नहीं दिया था वह अनशन व्रत धारण करके पड़ गया है। मैं दो-तीन दिनों से प्रतिदिन रात्रि में उसके पास जाता हूँ।

पण्डा—मैं तो आज सारी रात यहीं पर बैठा रहा हूँ तुम कब गये, मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं हुआ।

श्रीनाथ जी—'मैं मालूम न कराऊँ तो तुम्हें कैसे मालूम होगा ?

पण्डा—अच्छा तुम प्रतिदिन वहाँ जाकर क्या करते हो ?

श्रीनाथ जी—बातचीत करता हूँ–खेलता हूँ–और यहाँ से जो एक लड्डू ले जाता हूँ उसे हम दोनों मिलकर खाते हैं और फिर रात्रि के शेष होने पर लौट आता हूँ।

पण्डा—ठाकुर जी ! तुम मुसलमान के साथ बैठकर इकट्ठे लड्डू खाते हो ?

श्रीनाथ जी—तुम्हारी दृष्टि में हिन्दु मुसलमान का भेद है। मेरे लिये तो सब कोई एक ही है। वह मेरा कितना बड़ा भक्त है। तुम लोगों ने उसे मन्दिर में घुसने नहीं दिया। तभी मुझे प्रतिदिन उसके पास जाना पड़ता है।

पण्डा—मन्दिर हिन्दुओं का है। वहाँ विधर्मी मुसलमान को किस तरह प्रवेश करने दूँ। अच्छा ठाकुरजी ! आप उसके घर में जाएँ इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु तुमने उसके साथ खाया है। मेरे लिये अब क्या उपाय होगा ? मैं तो तुम्हारे प्रसाद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाता हूँ।

श्रीनाथ जी—क्यों, अब मेरा प्रसाद नहीं खा सकोगे ?

पण्डा—प्रभो ! मेरा दुर्भाग्य है। मेरी भेद-बुद्धि तो अभी तक मिटी नहीं है। जो मुसलमान के साथ मिलकर खाता है, मेरा मन उसका जूठा खाने को नहीं चाहता। ठाकुर ! अब आप ही इसकी व्यवस्था करो।

श्रीनाथ जी—'अच्छा ! मैं व्यवस्था करता हूँ। मेरे इस मन्दिर का प्रसाद तुम और मत खाओ। तुम अपने घर में मदनमोहन जी का एक मन्दिर स्थापित करो। मैं तो सर्वत्र हूँ, वहाँ पर भी रहूँगा। तुम प्रतिदिन उन मदनमोहन जी का ही

प्रसाद खाओगे। ऐसा ही हुआ। अब भी इसी प्रकार व्यवस्था चल रही है। वर्त्तमान सेवायत भी श्रीनाथ जी का प्रसाद नहीं लेते। उन मदनमोहन जी का प्रसाद खाते हैं। किन्तु एक बात में अवश्य परिवर्त्तन हुआ है। उस घटना के दिन से श्रीनाथ जी किसी भी सेवायत के साथ बातचीत नहीं करते।

(१६) एक बंगाली साधु की बात कहता हूँ। वह यहाँ पर (इसी स्वर्गाश्रम) में रहकर तपस्या करते हैं। वह हृदय से अथवा शरीर के और किसी स्थान पर ध्यान करना पसन्द नहीं करते थे। अपने सामने भगवान को देखूँ या बात करूँ ऐसी ही उनकी इच्छा थी। वह उसके अनुसार ही साधन करते थे। पिछले ज्येष्ठ मास के अन्त में एक दिन उस पर प्रभु की कृपा हुई। आराध्य देव उनके सम्मुख प्रकट हुए। न जाने कितना समय उनका भाव तन्मयता में व्यतीत हो गया। पीछे उसकी इच्छा हुई कि ठाकुर जी को प्रणाम करूँ। उन्होंने जितनी बार श्रीठाकुर जी की चरण रज लेने को हाथ बढ़ाया, प्रत्येक बार उनके अपने ही चरणों को स्पर्श करके अपने मस्तक पर अपनी ही चरण रज रखी। आगे फिर इच्छा हुई—"ठाकुर जी मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे आशीष दें। उसी समय उसका ही दाहिना हाथ, मानो दूसरे से परिचालित होकर ही अपने सिर पर रक्खा गया। वह बड़े विस्मित हुए। तब श्री ठाकुर जी ने उसे समझा दिया। कि यह तुम्हारा शरीर भी तो मेरा ही है।' सब शरीर ही मेरे हैं मैं ही सब शरीर में हूँ। मैं ही तुम्हारा आत्मा हूँ मैं ही तुम, और तुम ही मैं हूँ।

स्वर्गाश्रम

शुक्ला सप्तमी

अश्विन १३२३ बंगाल।

२५

ॐ

१—मनुष्यों का जो वमन है, वही भाग्यशाली कुत्तों का भोजन है।

२—हाय मूढ़ ! (तुम) क्या चिन्तन कर रहे हो ? यदि इसी क्षण मृत्यु आकर तुम्हें ग्रास कर ले तो यह चिन्तन तुम्हें क्या फल प्रदान करेगा ? क्या यह कभी सोचा है ?

३—ब्राह्मण का शरीर तपस्या के लिये है—भोग विलास के लिये नहीं।

४—जो लोग अज्ञानी हैं–स्वार्थ बुद्धि से दूसरों की सेवा (विषयभोग) करते हैं,–वे शोक के भागी शूद्र हैं। जब ज्ञान होता है और उसके द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करने का प्रयत्न करता है, तब ही वैश्यत्व की प्राप्ति होती है–तब उपनयन का अधिकार प्राप्त होता है। इन्द्रिय निग्रह के साथ-साथ जब स्वार्थ-परता मिट जाती है—जीवन परार्थ में व्यतीत होता है, तब ही सर्वभूतों के हित में अनुरागी वह जितकाम कर्मों क्षत्रियत्व प्राप्त करता है। (और) निष्काम कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि होने पर जब ज्ञान की प्राप्ति होती है, तभी ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है।

५—स्वार्थ - परार्थ - परमार्थ—(जीव में विकास के ये तीन क्रम हैं।)

६—जब तक स्वार्थ बुद्धि नष्ट नहीं होती, तब तक ब्रह्मचर्य की अवधि पूर्ण नहीं होती।

७—अपराविद्या–पराविद्या–महाविद्या–परमा विद्या–(ये एक से एक श्रेष्ठ हैं) अन्त में परमाविद्या ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

८—ब्रह्मचर्य काल में आचार्य और शास्त्रों से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिये। पश्चात् गार्हस्थ्य जीवन में सर्वत्र ब्रह्मदर्शन का अभ्यास दृढ़ करना चाहिये तथा स्वार्थशून्य होकर जगत् के कल्याण के लिये आत्म-विसर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् जब मन विषयभाव को छोड़ कर ब्रह्ममय हो जाय और परार्थ छोड़कर परमार्थ में प्रविष्ट हो, तब वानप्रस्थ आगमन स्वीकार करना चाहिये। जब परमार्थ भी न रहे,–मन ब्रह्मनिष्ठ होकर विज्ञान प्राप्त करले और सर्वत्र भगवान के दर्शन करके सर्वदा उनकी पूजा में ही नियुक्त रहने लगे तभी सन्यास होता है।

९—चारों आश्रम जैसे पुरुषों के लिये हैं वैसे ही स्त्रियों के लिये भी आवश्यक हैं।

१०—कर्म-प्रवाह अनन्त है,—(इसका) अन्त कहाँ ? कुशलता से से कर्म करने का नाम ही योग है।

११—जो शास्त्र से सार अंश ग्रहण करके उसके अनुसार स्वयं आचरण करते हैं, और दूसरों से भी उसी प्रकार आचरण करवाने का प्रयत्न करते हैं,—वे ही (सच्चे) आचार्य हैं।

१२—पागल कुत्ते के काटने से बुद्धिमान मनुष्य भी पागल हो जाता है, उसे मूत्रत्याग के साथ भी कुत्ते निकलते से प्रतीत होते हैं।

१३—जब हृदय संशय-सन्देह से व्याकुल होता है—अशान्ति से जीर्ण हो जाता है, शान्ति लाभ की आशा से व्याकुल रहने लगता है, किन्तु अपने बुद्धि-बल में हृदय का प्रगाढ़ अन्धकार नष्ट नहीं कर पाता, अपनी बुद्धि से दिशा का निर्णय नहीं कर पाता, जो काम अच्छा समझता है, उसे भी कर नहीं पाता और जो कुछ करता है, उससे भी सुफल की प्राप्ति नहीं होती, तभी—"करिष्ये वचनं तव" ऐसा कहकर उक्त विषादग्रस्त व्यक्ति आचार्य के प्रति आत्म समर्पण करता है।

१४—साधन के प्रारम्भ में गीता के अर्जुन की भाँति एकबार अच्छी तरह देख लेना चाहिये कि किसके साथ युद्ध करना होगा, किसे परास्त करना होगा, किसकी सहायता लेनी चाहिये, और इस साधन समर का क्या फल होगा? नहीं तो—ईसाई हुआ तो क्या इसी कारण पूर्वजों का धर्म त्याग दूँगा?—ऐसे ईसाई होने से (कुछ) लाभ नहीं।

१५—प्राथमिकता वैराग्य कैसा है?—पिता माता को छोड़कर गुरु का आश्रय स्वीकार करता है। भाई-बहनों की माया छोड़कर गुरुभाइयों से प्रेम करता है, बन्धुओं की उपेक्षा करके सज्जनों के प्रति अनुरक्त होता है। विलासिता को छोड़कर कठोरता का आश्रय लेता है। विषय सम्बन्धी कर्म त्यागकर साधन सम्बधी कर्मों में प्रवृत्त होता है इस प्रकार से जहाँ आसक्ति थी वहाँ पर द्वेष और उदासीनता होती है। एक तरह का संसार बदल कर दूसरा संसार बन जाता है। पीछे जब विज्ञान (अपरोक्षज्ञान) प्राप्त करता है, तब संसार भेदज्ञान-आसक्ति-विद्वेष-सब मिट

जाते हैं, महात्याग और महाप्रेम के प्रबलस्रोत में सब एक में लय हो जाते हैं।

१६—प्रकृति, जीवात्मा, परमात्मा-विज्ञेय हैं।

१७—जब तुम कहते हो कि यह रज्जु है, सर्प नहीं, तभी साथ-साथ यह भी कहना हो जाता है कि रज्जु और सर्प में सादृश्य या एकत्व है।

१८—आत्मा, अनात्मा और इन दोनों के सम्बन्ध को जानना होगा।

१९—क्षुद्रतम परमाणु के भीतर भी अनन्त संसार, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रकार का अनन्त पूर्णत्व वर्तमान हैं। सभी सर्वत्र विराजमान है। एक परमाणु को जानने से ही सबका ज्ञान हो जायेगा।

२०—कुछ भी आवश्यक नहीं है।

२१—भारत का क्या अर्थ है? जानते हो? 'भा' अर्थात् ब्रह्म-विद्या, उसमें जो रमण करता हैं वह भारत है। विवेक-विज्ञान-सम्पन्न बिना हुए 'भारत सन्तान' कहकर परिचय देने का क्या अधिकार है?

२२—कृपणता का बोझ लेकर स्वर्ग राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता।

२३—तुम्हें मालूम है, मुखर्जी बाबू की दो स्त्रियाँ थीं—पद्म-मणि और कमलमणि। चाहे गुप्त धन की प्राप्ति की आशा से हो या और किसी कारणवश, दोनों स्त्रियाँ नियमपूर्वक भली-भाँति पति सेवा करती थीं। पद्ममणि बूढ़े के दाहिने पैर को और कमलमणि बायें पैर को

दबाती थीं। अन्य अभ्यास के कारण वे दोनों पतिसेवा को भूल कर पैरों की ही सेविका बन गईं। दैववश एकदिन परस्पर में दूसरी के अंग का स्पर्श होने से कलह आरम्भ हुआ। कलह क्रमशः बढ़ा। फिर एक दूसरी को अभिभूत करने के लिये, भगवद्-द्रोही शैतान की नाई पद्ममणि पति के बायें पैर पर और कमल, दायें पैर पर लाठी से मारने लगीं। मुखर्जी महाशय की चिल्लाहट से भी उन्हें चेत न हुआ। कोई अन्य उपाय न देखकर उन्होंने दोनों को घर से निकाल दिया एवं परित्याग कर दिया। धृतराष्ट्र की तरह हम (लोग) भी कितनी बार कहते हैं—"मामकाः पाण्डवाश्चैव"—ये मेरे वे तुम्हारे। इनके लिये उनका सर्वनाश करूँगा। उनको चाहे कुछ भी हो, इनका मंगल होने से ही (सब कुछ) हो गया।"—इन्हीं (सब) भावनाओं का पोषण करके भी विश्वमूर्ति को सन्तुष्ट करना चाहते हो ?

स्वर्गाश्रम
२३-८-१९१६

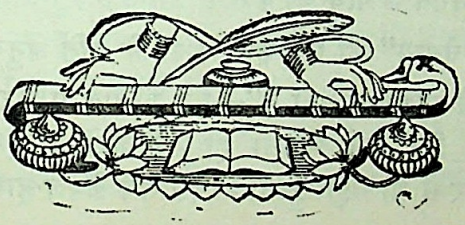

२६

ॐ

१—एक कहानी है :—अंधेरी रात्रि थी; बहुत आंधी और वर्षा हो रही थी। एक पथभ्रष्ट परिश्रान्त पथिक ने आश्रय प्राप्ति के लिये एक कुटिया के द्वार पर आवाज दी। अन्दर से प्रश्न हुआ—"कौन है ?" उत्तर मिला—"मैं हूँ।" इस घर में दो व्यक्तियों के लिये स्थान नहीं है तुम अन्यत्र जाओ।" कुछ समय पश्चात् एक अन्य पथिक ने द्वार खटखटाया। इस बार भी प्रश्न हुआ "कौन है ?" उत्तर —"तुम हो !" द्वार खुल गया।

२—ठाकुर ! तुम जीवित रखो या मार डालो, शुभ करो या अशुभ, मैं तुम्हारा ही हूँ। तुम्हारी जो खुशी हो सो करो, मैं और किसी दूसरे की आशा नहीं रखता।

३—जो ठीक-ठीक एक व्यक्ति पर निर्भर करता है वह कभी दस द्वारों पर भीख नहीं मांगता।

४—यदि आश्रय ही स्वीकार करना हो, तो वट वृक्ष को छोड़ कर बैंगन के पौधे का क्यों ?

५—"श्रीचैतन्य" को छोड़कर "रूप" के प्रति अनुराग क्यों ?

६—"मुझे अभिमान नहीं है"—यह भी एक प्रकार का-अभिमान है। चाहे कितना ही यत्न करो, अभिमान किसी प्रकार से भी नहीं छूटता। इसलिये केवल हाथ जोड़कर

प्रार्थना करनी होगी—"भगवन् ! अभिमान नष्ट करो।"

७—वैराग्यहीन तपस्या और बंधी हुई नाव को चलाना—एक ही बात है।

८—खेती करने के लिये साधन रूप बैल को जैसे खाद्य आदि देकर स्वस्थ तथा काम करने योग्य बनाये रखना पड़ता है, चित्तरूपी खेती की अनुकूल पुष्टि के लिये इस शरीर को भी वैसी ही खाद्यादि देकर स्वस्थ और कार्यक्षम रखना पड़ता है। शरीर के साथ इतना ही सम्बन्ध और व्यवहार उचित है।

९—केवल मनुष्य ही नहीं—जिन अन्य प्राणियों के प्रति भी तुम शत्रु-मित्र और उदासीन-भाव रखते हो, उनमें से कितने जीवों के साथ पूर्वजन्म में तुम्हारी शत्रुता या मित्रता थी !

१०—मेरे दाहिने हाथ के रुपये बांयें हाथ में चले जायें तो इससे मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु मेरे हाथ से तुम्हारे हाथ में चले जाने से ही मन चंचल हो उठता है। भेद ज्ञान ऐसा ही है।

११—जिन्होंने भगवान में चित्त समर्पित किया है, उन्हें प्रत्येक जड़ परमाणु भी उन्हें आध्यात्मिक-प्राप्ति में सहायता देता है।

१२—मानव-गुरु एकबार कान में मन्त्र देकर निश्चिन्त हो जाते हैं परन्तु जगद्गुरु दिन-रात सर्वदा ही उन्नति के मार्ग में परिचालित करते रहते हैं।

१३—जिस क्षण में तुम अपनी एक भी वासना को दमन करो, मन को थोड़ा सा भी संयत कर सकोगे उसी क्षण में थोड़े

हो उन्नत हो जाओगे। और जिस क्षण में तुम मन के थोड़े से भी आधीन हो, प्रकृति का थोड़ा सा भी दासत्व स्वीकार करोगे उसी क्षण तुम थोड़े अवनत हो जाओगे, (नीचे उतर आओगे)

१४—'सभी शरीर भगवान के हैं'—इस प्रकार निश्चय करते रहो। फिर घृणा, लज्जा व समालोचना का अवसर कहां रहेगा ?

१५—भगवान की विशेष कृपा के बिना साधन नहीं होता।

१६—मन जितना शान्त होता है उतना ही अवशिष्ट और सूक्ष्म वासनाऐं भी तीव्र वेग से आक्रमण करती हैं।

१७—मिट्टी के नये घड़े में पानी रखने से थोड़ी गन्ध अवश्य होगी। इसलिये उसे फेंककर दूसरा नया घड़ा खरीदने से काम नहीं चलेगा, कुछ दिन सहन करना ही पड़ेगा।

१८—पूर्वकाल में जीवन के प्रथम भाग में गुरु के आश्रम में रहकर कठोर ब्रह्मचर्य और संयम के साथ योग और शास्त्रादि का अभ्यास करना पड़ता था। उसके पश्चात् दूसरा भाग गृह में व्यतीत करके, तीसरे और चौथे भाग में पुनः बन में निवास करता था, किन्तु, आजकल मनुष्य सारी आयु विलासिता की गोद में रहकर जन्म से मृत्यु-पर्यन्त भोग में आसक्त रहकर और कुछ दुर्बल सन्तानों के पिता होकर हठात् योगीराज होने को इच्छा करते हैं; और तीन दिन में यदि भगवद्दर्शन न हों तो मन में संशय और अविश्वास करने लगते हैं।

१९—विश्वास और निर्भरता के बिना संसार-सागर से पार होना कठिन है।

२०—मन किस समय क्या करता है—इसका निरीक्षण करने के लिये मन के एक अंश को सर्वदा ही प्रहरी रखना पड़ता है।

२१—धर्म-बाह्य अनुष्ठान में नहीं, मन में ही है।

२२—कोई भी कर्म अच्छा या बुरा नहीं है, मन के अनुसार अच्छा या बुरा होता है।

२३—शिष्य बहुत बार गुरु को बड़ा करने की इच्छा रखते हुए भी अपनी बुद्धि के दोष से और भी छोटा बना देते हैं।

२४—साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। जैसा कर्म, वैसी मजदूरी अवश्य मिलेगी।

२५—साधक को छोड़कर जाते समय दुर्बलतायें एक मृत्यु का सा डंक मारती हैं। उस समय हताश नहीं होना चाहिये।

२६—हिमालय में गंगा की गति एक दिशा में है किन्तु बंगदेश में गंगा की गति दोनों तरफ है।

२७—विषयासक्ति की अपेक्षा वैराग्य में आसक्ति होना श्रेष्ठ है किन्तु आसक्ति मात्र ही दोषयुक्त है।

२६—वास्तविक वैराग्य में न आसक्ति होती है और न विद्वेष ही होता है।

२९—"पुत्र अच्छा हो"— अनेक माता पिता ऐसा (यह) भी नहीं चाहते। कैसा निःस्वार्थ प्रेम है?

३०—कल जिसे 'ठीक' समझा था, आज उसे ही विपरीत समझता हूँ। कितने ही समय 'मैंने बुद्धि के दोष से अन्याय किया है—ऐसा सोचकर अनुतापग्रस्त हो जाता हूँ तो भी अभिमान ऐसा ही अन्धा है, कि प्रायः प्रतिक्षण ही उस

समय की बुद्धि-विचार को 'अभ्रान्त' मान लेता है, तथा उसी बुद्धि से छोटे-बड़े सभी के कार्यों की समालोचना करता रहता है।

३१—निन्दक, समालोचक, और शत्रुओं के भय से हम लोग कितनी बार अन्याय कार्यों से दूर रहते हैं। वे कितने उपकारी हैं।

३२—भगवान अपनी जमींदारी की रक्षा करने में सर्वदा ही समर्थ हैं। उनकी बुद्धि भी हमसे कम नहीं है।

३३—जो मेरे प्रेमपात्र हैं, उन्हें भगवान् मुझ से भी अधिक प्रेम करते हैं, और वे उसका अधिकतर मंगल साधन करने में समर्थ भी हैं। मैं तो केवल 'आ हा, ऊँ हूँ' करने में ही समर्थ हूँ।

३३—जिनका जगत् है, उन्हीं के सारे कर्त्तव्य और कर्तृत्व भी उन्हीं के हैं। जगत् में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।

३५—मन को तो एक क्षण भर के लिये भी अन्यत्र ले जाना उचित नहीं हैं तो फिर समालोचनाओं के लिये अवकाश ही कहाँ ?

३६—भगवान् अपनी इच्छानुसार जिससे जो चाहे करावें उसमें मेरा क्या ? मेरा तो एकमात्र कर्म है—केवल उन्हें ही स्मरण करना !

३७—मैं चाहता हूँ प्रेम और शान्ति; अन्य और कुछ भी नहीं चाहता।

३८—भगवान् का नाम-जप करते-करते ही उनकी कृपा होती हैं। उनकी कृपा होने से ही प्रेम की प्राप्ति हो सकती है।

३९—चातक की न्याईं एक निष्ट होना चाहिये।

४०—भगवन् ! यदि तुम्हें ही प्राप्त न कर सका तो मनुष्य जन्म से क्या लाभ ?

४१—जो सोचता हैं—'मुझसे कुछ भी नहीं होगा' उससे कुछ होना बहुत कठिन है। किन्तु जो धैर्य और अध्यवसाय के साथ साधन करते रहते हैं, भगवान् उनके प्रयास में सहायता करते हैं।

४२—जो इच्छा और यत्न करता है, वह प्रेममय के मंगल हस्त को मंगल में सर्वत्र ही देख पाता है।

२७

ॐ

१—ऐसे बहुत से कर्म हैं जिनके करने से तुम्हारी कुछ भी हानि नहीं होती, किन्तु उन्हें देखने या जानने से दूसरों की हानि हो सकती है। इस प्रकार के कर्म सावधान होकर करना चाहिए।

२—Heart (हृदय) और reason (विचार) जिस प्रकार एक दूसरे को संयत करें तथा सहायता प्रदान करें, उसका ख्याल रखना चाहिये।

३—उद्देश्य तो एक ही हैं—मनोयोग (मन की एकाग्रता) भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग,—ये सब उसीके उपाय हैं। साधक को अपनी प्रकृति के अनुसार इन उपायों का अवलम्बन लेना चाहिये।

४—आत्मा का बन्धन क्या ? और उसकी मुक्ति भी क्या ? बन्धन और मुक्ति सब मन की ही हैं ! मन के मननशील होने से जीवबद्ध है, और मनन को पूर्णतया छोड़ देने से ही मुक्त हो जाता है।

५—आत्मा प्रशान्त महासागर रूप है, मन उसमें एक बुद्-बुद् मात्र है, उसकी एक तरंग मात्र है। विषयरूपी पवन से तरंगे उठती हैं। निर्विषय निस्तरंग मन आत्मा ही है।

६—सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का संग्राम चल रहा है, और प्रलय तक चलता ही रहेगा

७—साधना धर्मपत्नी है न !इसलिये इसे अन्त:पुर में—हृदयके अन्त:स्थल में गुप्त रखना चाहिये। मन का प्राय: अधिक अंश अन्तर्मुख रखकर व्यवहारिक जगत् में आवश्यकता के अनुसार कृत्रिम वेष धारण करके अभिनय करना होगा जैसे दो एक कुटुम्बी ही अन्त:पुर में जा सकते हैं, वैसे ही विशिष्ट धर्मबन्धु के साथ ही सावधान होकर साधना प्रसंग में आलोचना कर सकते हो !

८—सड़क पर चलते समय संसारिक व्यक्ति सड़क के दोनों किनारों में स्थित मकान, वृक्ष, दुकानें और किस दुकान में क्या-क्या मिलता है—इन सब का ख्याल रखते हैं परन्तु साधक का मन भगवान में ही रहता है, वह केवल शरीर से ही चलता है, इसलिए उसकी दृष्टि में दूसरा

कुछ भी नहीं पड़ता। उसे तो यह भी मालूम नहीं होता कि वह किस सड़क से चलकर आया है।

९—सब ही शरीर—केवल सब शरीर ही क्यों—सारा जड़ जगत् ही 'करण—कारक, है। एकमात्र लीलामय वंशीधारी ही 'कर्त्तृकारक' हैं।

१०—शक्ति का विनाश नहीं—रूपान्तर—मात्र है। कर्म ही कर्म-फल में परिणत होता है।

११—मनोविज्ञान, जड़—विज्ञान, रसायन शास्त्र और चिकित्सा-विज्ञान—चाहे किसी विषयमें कहो—प्रत्येक ही कुछ Theory या अनुमान के ऊपर निर्भर करता है और अनुमान अज्ञान ही हैं! 18 th Century में (अठारहवीं शताब्दी में) जिन अनुमानों पर कोई व्यक्ति कुछ अविष्कार करके समग्र जगत में सुप्रतिष्ठित हुआ था, उन्नीसवीं शताब्दी के पण्डित लोग उसे बालक बुद्धि के साथ तुलना करके नवीन अनुमानों के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु यदि इन लोगों को मालूम होता है कि परवर्ती शताब्दी के लोग उनके अभिमान को पूर्णरूप से खण्डित करेंगे तो क्या होता?

१२—कई बार देखा गया है कि कितने अभिमानी व अभिज्ञ चिकित्सक लोग जटिल रोगों की परीक्षा करते समय, विद्यालय में किसी भी श्रेणी के विद्यार्थी की भांति, हत्-बुद्धि से हो जाते हैं, किन्तु इस बात की याद कबतक रहती है?

१३—बाल्यावस्था में किसी समय यह विचार उठता था कि पेड़ और पत्ते हैं, इसलिये पवन की गति मालूम पड़ती है।

परन्तु पीछे इसके विपरीत मालूम हुआ कि पवन है इसलिये पेड़ पत्ते हिलते हैं।

१४—किसी प्रकार का नियमित साधन जब असम्भव हो जाय तब सामर्थ्य के अनुसार स्मरण, चिन्तन और प्रार्थना करनी चाहिये। बैठकर न हो सके तो खड़े होकर, उसमें भी यदि असमर्थ हो तो चलते फिरते भी भगवत् स्मरण करना। भगवत् स्मरण में सुसमय- कुसमय, शुचि-अशुचि जैसे भेदभाव नहीं हैं।

१५—एक काल में एक से अधिक प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। जो प्रार्थना कर रहे हो, वह जबतक पूर्ण न हो—तबतक दूसरी प्राथना नहीं करनी चाहिये। अतः प्रार्थना चुन लेनी चाहिये। जितना अधिक समय सम्भव हो उस प्रार्थना को करते रहना चाहिये।

१६—नाम जप करने से अवश्य ही फल मिलता है। किन्तु भक्ति के साथ नाम जप करने से अधिक फल मिलता है। जप आरम्भ करते समय पहले मन्त्र के अर्थ को भली भाँति चिन्तन कर लेना चाहिये; और जप करते समय न हो सके तो जप आरम्भ करते समय "नामी का यथा सम्भव स्मरण करना चाहिये"।

१७—"जो कुछ भी हो रहा है—मैं चाहे किसी भी अवस्था में रहूँ, मैं चाहे समझूँ या न समझूँ—सब ही मेरे मंगल के लिये ही है।"—ऐसा विश्वाश रहने से साधक को कभी भी सन्तोष नहीं छोड़ता।

१८—जिनके मिलने से दूसरी कुछ याचना करने की इच्छा नहीं रहती, जिनके दर्शन कर लेने पर अन्य कुछ भी

दर्शनीय नहीं रहता,—उन्हें छोड़कर मैं क्षुद्र, अनित्य दुःख-दायी पदार्थों की इच्छा क्यों करूँ ?

१९—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—मनरूप कालीयनाग के सेवक पहिले-पहिले साधक को विघ्न पहुँचाते हैं। परन्तु जब पुनः-पुनः पाद-प्रहार एवं मन्त्र और औषधि के बल से मनरूपी नाग का दमन किया जाता है, तब परास्त तथा दुर्दशाग्रस्त शत्रु के अविश्वासी कर्मचारियों की नाईं, वे सब अनुचर, साधक की सहायता ही करते हैं।

२०—स्वामी अपने सेवक को साथ ले बाजार जाकर अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ खरीदता है। वृद्ध सेवक तो बिना कुछ आपत्ति किये (बिना कुछ कहे) खरीदी हुई वस्तुओं को उठा ले चलता है। किन्तु, चंचल-प्रकृति का बालक-सेवक बार-बार कहता रहता है, "बाबूजी ! यह खरीदिये, वह खरीदिये।" पर उनमें से बाबूजी की इच्छा के साथ जिनका मेल होता हैवही वस्तुऐं खरीदी जाती हैं, दूसरी नहीं।

२१—रेल-गाड़ी में चलते समय क्या कभी ध्यान नहीं किया ? बहुत बड़ा मैदान धूँ-धूँ कर रहा है; उसमें जहां-तहां एक-एक ग्राम बसा होता है। इसी प्रकार अनन्त महाकाश में भी जहाँ-तहाँ एक-एक ब्रह्माण्ड हैं ! फिर तुम हम कहाँ ?

२२—शेक्सपियर ने लिखा है—"They had but one heart and one purse between them"(वे परस्पर एक ही हृदय और एक ही पूंजी रखते थे।) तात्पर्य यह है कि दो व्यक्तियों में प्रेम जितना बढ़ता है, भेदभाव उतना ही कम हो जाता है। प्रेम की पूर्ण परिणति में अभेद-भाव आ ही जाता है। इसीलिये गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गईं थीं।

२३—पहले था—नन्हा-सा एक बूंद पानी, उसकी नीचे की ओर गति थी। सूर्य नारायण की कृपा से अब वह कितना बड़ा और ऊपर चढ़ने वाली भाप बन गया है।

२४—ज्येष्ठत्व का नियम क्या है, जानते हो ? शूद्रों में आयु से, वैश्यों में धन से, क्षत्रियों में वीर्य से और ब्राह्मणों में ज्ञान से ही ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व होता है। यह मनु का मत है।

२५—"जब तक अभिमान है— तब तक ही साधना है।

२६—जिसका कर्म उसी का फल भी है। फिर चिन्ता किसके लिये ? सब कर्मों के कर्त्ता एकमात्र भगवान ही हैं। पाप-पुण्य, धर्माधर्म के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है !

२७—दो बन्धुओं में प्रश्न उठा—'दोनों में से कौन पहले मृत्यु चाहता है !' उनमें से एक ने जवाब दिया। "मैं पहले मरना चाहता हूँ, तुम्हारे सदृशबन्धु पहले मरने से न जाने मुझे कितना दुःख उठाना पड़ेगा।" दूसरे ने कहा, "मैं भी चाहता हूँ, कि तुम्हारी मृत्यु पहले हो। क्योंकि मेरी मृत्यु से तुम्हें जो कष्ट होगा वह तो दूर की बात है, तुम्हें तो थोड़ा कष्ट भी नहीं होना चाहिये। तुम्हारे सामान्य कष्ट से भी मैं अपनी मृत्यु को सहस्र गुण अधिक पसन्द करता हूँ।" सनातन जी ने रूप गोस्वामी से कहा था, "मधुकरी कर के खाओ, नहीं तो उन्हें (भगवान को) कष्ट होगा।"

२८—Private-life (व्यक्तिगत जीवन) Public-life (सामाजिक-जीवन) और Spiritule-life (आध्यात्मिक जीवन—इन तीनों को सम्बन्धहीन पृथक भाव से नहीं

रखा जा सकता। Privat life और Publice-life को इस प्रकार से चलाने की चेष्टा करनी चाहिये जिससे कि Spritual-life के प्रतिकूल न हों।

२९—जीवन-संग्राम में जय-पराजय, लाभ-हानि, सिद्धि-आसिद्धि में जिसका चित्त विकृत नहीं होता ऐसा स्थिर मन वाला साधक-दास्य भक्तियुक्त समर्पित-चित्त युधिष्ठिर या सत्वगुण है। दुष्पराजय दुर्योधन अहंकार है। भगवान्—चतुर-चूड़ामणि चक्री श्रीकृष्ण ने चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक—इन पाँच ग्रामों के अधिकार पर सत्वगुण के लिये दावा किया। परन्तु, अहंकार ने जवाब दिया, "देहराज्य में सूई की नोक के बराबर स्थान का राजत्व भी स्वेच्छा से नहीं छोड़ूंगा। इसलिये युद्ध आरम्भ हुआ सत्वगुण ने जय प्राप्त की। राज्य शान्ति पूर्ण हो गया!

३०—अच्छा, विभीषण और युधिष्ठिर तो सत्वगुण हैं। फिर उन्हें निष्कण्टक राज्य मिलने के पश्चात् राज्य शान्तिमय कैसे हुआ! क्योंकि सत्वगुण भी तो माया की सीमा के अन्दर है। एक बात यह है— सकुटुम्ब रावण और दुर्योधन का निधन होने पर, जब शुद्ध सत्व सम्राट होता है, तब वह अनायास भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन कर सकता है, इसलिये उस समय राज्य भी भगवान् का होने से भगवद्रूप हो जाता है।

३१—शल्य-सारथी और कृष्ण-सारथी में भेद की उपलब्धि करनी चाहिये। निरूत्साहकारी का संग सर्वथा त्याज्य है।

३२—कहीं-कहीं ऐसा देखा गया है कि कोई बिगड़ा हुआ बैल बन्धन में रहना नहीं चाहता, रस्सी तोड़कर भाग जाता है। उस समय चुगाने वाले बालक उसे दूसरे बैल के साथ इकट्ठा बाँधकर छोड़ देते हैं। तब वह दौड़-भागकर नहीं जा सकता। हमारे शरीर में भी दो दुष्ट बैल हैं—मन और प्राण। इन्हें इकट्ठे एक 'तार' में बाँध दो। उससे दोनों ही का दमन हो जायगा।

३३—बाईबिल में कहा है—

"It is easier for a Camel to go through the eye of a needle, than for a rich man to enter the gates of Heaven." अर्थात एक ऊँट का सूँई के छिद्र में होकर निकलना, एक धनी के लिए स्वर्ग के द्वार में प्रवेश पाने की अपेक्षा सुगमतर है। यहाँ पर धनी का अर्थ है—जिसकी धन में आसक्ति हो। धनवान जनक तो नमस्कार के योग्य हैं। पुरानी गुदड़ी में जिनका चित्त आसक्त है, ऐसा बनवासी-सन्यासी भी 'धनी'–पर–वाच्य है। अतः ऐसे आसक्त चित्त वाले धनवान की अवस्था अवश्य ही शोचनीय है।

३४—शास्त्र में जहाँ 'स्त्री ही नरक का द्वार है' ऐसा वर्णन किया गया है, वहाँ पर अर्थ इस प्रकार है—पुरुष के लिए स्त्री विघ्न-रूप है, और स्त्री के लिए पुरुष विघ्न-रूप है। असंयत चित्तवाले पुरुष के लिए स्त्री नरक का द्वार है। ऐसे ही पुनः असंयत-चित्तवाली स्त्री-मात्र के लिये पुरुष ही नरक का द्वार है।

३५—एक भगवान ही है, और कुछ नहीं है। 'मैं' फिर कौन हूँ ?

३६—भगवान ही सब शरीरों में खेल रहे हैं। फिर बन्धन और मुक्ति किसकी ?

३७—भक्ति का प्रवाह बहादो—मैं 'तुम' 'वह' सब उसमें डूब जायें।

३८—सर्वदा सुवर्णमयी ऐनक पहिने रहो। उसके अन्दर से सबको स्वर्णमय देख पाओगे।

३९—दो व्यक्ति एकसी प्रकृतिवाले होनेपर ही प्रेम होता है। यदि भगवत् प्रेम प्राप्त करना चाहते हो तो उन्हीं (भगवान ही) का अनुकरण करो। "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः"।

४०—संसार के सब कर्तव्य सुसम्पन्न होने के पश्चात् साधन करूँगा—ऐसा करने से साधन के लिये समय नहीं मिलेगा। ठीक समय और नियमित रूप से साधन करना होगा। इससे दूसरे कार्य जैसे चलें, चलने दो। और एक बात है—साधना तो सबसे बड़ा कर्तव्य है न !

४१—पापी, पुण्यवान् (शुभ अशुभ) पण्डित-मूर्ख, उच्च-नीच, स्त्री-पुरुष, सभी मुक्ति के अधिकारी हैं।

४२—तुम्हारा आदर्श क्यों क्षुद्र होना चाहिये ? क्या तुम सफलतारूप उत्कोच (रिश्वत)के प्रलोभन से साधन करोगे ? साधन मानव जीवन का एकमात्र कर्तव्य है—इसलिये साधन करो, चाहे उससे सिद्धि हो अथवा न हो।

४३—तीर्थदर्शन, साधुसंग, साधुसेवा और शास्त्रावलोकन—ये सब अनुष्ठान श्रद्धा और विश्वास के साथ होने चाहिए।

४४—यात्रा-गान सुनने (लीलाओं का अभिनय देखने) के लिये कितने लोग जाते हैं। उनमें लड़कों को पसंद आता है—लड़ाई और विदूषक का अभिनय। वृद्धों को रुचता है—हरिश्चन्द्र और सीता का विलाप! कोई तबले की ताल पर ध्यान देता है और कोई वेषभूषा देखता है। इस संसाररूप मण्डी में सभी प्रकार की सजावट है—जिसको जैसा रुचिकर है वह उसी को स्वीकार कर लेता है

४५—नाटक (Theatre) तो देखा ही होगा। उसमें एक दृश्य जाता है, तो दूसरा नवीन दृश्य सामने आ जाता है। साधन करते समय इसी प्रकार एक के पीछे एक पर्दा खुलता रहता है।

४६—मन्त्र की कुंजी से अन्धकारमय बक्स को खोलते रहो। अन्धकार के भीतर से जो प्रकाश निकलेगा वह अन्धकार के साथ सारे विश्व को ग्रस लेगा।

४७—शक्तिमान बनो। राजा बलि की भाँति त्याग यज्ञ का अनुष्ठान करो। हिताकांक्षी शुक्राचार्य की बातें मत सुनो। जो पहिले दूर रहने से वामन और फिर समीप आने पर विराट रूप हैं—उन विश्वमूर्ति के चरणों में आत्मसमर्पण करो—सांसारिक और पारलौकिक सारी वासनाओं को छोड़ दो। तुम्हारे हृदय-मन्दिर के द्वार पर वे (भगवान) चिरकालतक विराजमान रहेंगे।

४८—वस्तु सात्विक होने पर भी परोसने और खाने के दोष से रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि करने वाली हो जाती है।

४९—अधिकारी भेद से शास्त्रपाठ करना चाहिये।

५०—कफ बढ़ाने वाली चीजों का अधिक खाना ठीक नहीं।

५१—मनरूपी पतंग को प्राणरूपी-सूत्र से बांधकर उड़ाओ और उस सूत्र का दूसरा सिरा श्रीभगवान के चरणों में बांधे रक्खो।

५२—बाल्यकाल में 'पासे' मिल जाते तो उनसे अकेला ही खेलता उस समय मानो चार आदमी ही खेल रहें हों—इस ढंग 'गोट' को चलाता। अकेला ही चार व्यक्तियों के पासे फेंकता। और मैं ही मध्यस्थ होकर जिसके लिये जैसा ठीक होता, उसके दाव के अनुसार उसकी गोट चलाता।

५३—क्या, समुद्र मन्थन करोगे? साधन रूपदण्ड में श्रद्धा की डोरी बाँधकर मन्थन करते रहो। शक्ति और सिद्धि, विद्या और ऐश्वर्य—कितने ही सामने आवेंगे; तथा भय, शंका, और सन्देह भी—कितने ही उठेंगे! किन्तु धैर्य के साथ मन्थन करते रहो—अन्त में अमृत प्राप्त करोगे।

५४—एक व्यक्ति तो मिश्री मिलने पर गुड़ छोड़ता है। दूसरा कहता है, "मिश्री मिले या न मिले, गुड़ खाना ठीक नहीं, इसे किसी प्रकार से भी नहीं खाऊँगा!

५५—होली के समय श्रीनन्दग्राम के पुरुष श्रीकृष्ण के पक्ष में तथा वरसाना की स्त्रियाँ श्रीराधा के पक्ष में होती हैं। लठमार होली की सरस झाँकी का आयोजन होता है। कईबार चोट लग जाने पर खून भी निकल आता है—परन्तु सरस भाव की गम्भीरता तथा मर्यादा सदैव बनी रहती है। श्रीनन्दग्रामवासी आनन्द अनुभव करते हैं विजय सदा श्रीराधा पक्ष की ही होती है।

५६—जो भगवान के मार्ग के विरोधी हैं, वह त्याग ने योग्य हैं और जो उसको अनुकूल हैं वह सेवनीय हैं।

५७—भगवान् खद्योत् (जुगनु) की भाँति है। इच्छा होने पर ही प्रकाशित होते हैं। नहीं तो, पंखों के आवरण से प्रकाश को ढाँप लेने पर उसे बलपूर्वक बाहर नहीं किया जा सकता।

५८—मन जिस विषय में तन्मय होगा उसमें उसी की छाप या फोटो आजायगी। वह निर्मल नहीं रहेगा।

५९—जिस प्रकार अभ्यास करने की चेष्ठा करोगे मन उसे ही पकड़कर रहने का प्रयत्न करेगा और जिस अभ्यास को छोड़ दोगे, उसे वह भी क्रमशः छोड़ देगा। यही मन का नियम हैं।

६०—मैं जिसे मारता हूँ उसकी कौन रक्षा कर सकता है? मैं जिसकी रक्षा करता हूँ, उसे कौन मार सकता हूँ?

६१—आकाश में लाल बादल क्रीड़ा, कर रहे हैं। महाकाश तथा चिदाकाश में जगज्जननी की नर्तन लीला देखते रहो। यह नृत्य जब बन्द होगा तभी सुषुप्ति हैं।

६२—जब इन्द्रियाँ विषयग्रहण से विरत होगी, तभी भगवान प्रकाशित होंगे।

६३—राजा की इच्छा हुई—नगर में चलें। संवाद वाहक दौड़ा। मैला साफ होने लगा। तोरण द्वारों को फल-पुष्पों से भूषित किया गया। अभिनन्दन के लिये व्यवस्था होने लगी, चारो ओर दौड़धूप तथा व्याकुलता आरम्भ हुई।

कुछ दिन पीछे राजा आये—दरबार में बैठे। बड़ा आनन्द मिला।

६४—संकीर्णता या संसार ज्यों का त्यों रहे, और साथ ही भगवतप्रेम भी हो जाय—सो कैसे बनेगा ?

६५—मैं द्वार खोलकर उनके लिये बैठा रहूँ,—जब उनकी मर्जी होगी, आजायेंगे।

६६—उन्हें पहिचानते तो हो नहीं, फिर जब वे आयेंगे तब किस तरह पहिचान सकोगे ? धोका न हो जाय।

६७—नक्षत्र अपनी इच्छा से आते हैं अपनी इच्छा से ही जाते जाते हैं। तुम इच्छा करने पर ही उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते और न उन्हें रोक भी सकते हो। वे उस 'चन्द्र के' अनुचर हैं न ? चन्द्र भी अपनी इच्छा से आवेगा और पहिले-पहिले तो आते ही भाग जायगा।

तब स्वाभाविक रूप से साधक के हृदय में मुमुक्षुहीन का एक नवीन आन्दोलन उत्पन्न होता है। वही साधक के हृदय में भगवान का दूतरूप है। पश्चात् उस परमदेव को हृदय में प्रकट करने के लिये देह, मन प्राण की पूर्णतया शुद्धि होती है। और उस शुद्ध हृदय में ज्ञान एवं भक्ति के आविर्भाव पूर्वक उनके अभिनन्दन की व्यवस्था होती है। तदनन्तर प्रभु का दर्शन होता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

साधक जब साधन करने लगता है तब अनन्त चिदाकाश में नाना प्रकार के अनुभव होते रहते हैं। वे अनुभव चिरस्थायी नहीं होते, और न साधक उन्हें अपनी

इच्छा से ही ला सकता है। परम ज्योतिरूप चन्द्रमा का दर्शन होने से पहिले इस प्रकार असंख्य अनुभव होते हैं। वे नक्षत्रों की भाँति निर्मल चित्ताकाश में स्वतः स्फूर्त स्वरूप में प्रकट होते और विलीन होते हैं। अन्त में उस परम ज्योतिरूप चन्द्रमा का दर्शन होता है। परन्तु वह दर्शन भी क्षणिक है।

६८—मायामय और मुक्तिदाता एक ही हैं न ? इसलिये बन्धन और मुक्ति के बीच इकट्ठे मिले ही रहते हैं।

६९—मन ही मन का नाश करेगा। अभिमान ही अभिमान को नष्ट करेगा !

७०—उपनिषद्, बेदान्तसूत्र और गीता ये साधकों के पढ़ने योग्य हैं। यह मुनियों का सिद्धान्त है।

ॐ

१–रोगी की इच्छा या डाक्टर की इच्छा ?

२–ब्रह्म-परब्रह्म-परात्पर पुरुष एक ही हैं।

३–तीन व्यक्तियों ने एक साथ प्रजापति (ब्रह्मा) के समीप जा कर उपदेश के लिए प्रार्थना की। प्रजापति ने कहा "द"! तीनों अभिमानी हैं न ? प्रत्येक ने ही सोचा, मैंने ठीक समझा हैं। एक ने समझा "द" दम्। दम् गुण का अभ्यास करने को कहते हैं। दूसरे ने समझा "द" दया, दया व्यक्ति का अनुशीलन करने को कहते हैं"। तीसरे ने निश्चय किया "द"—दत्त, दान करने को कह रहे हैं"। बात तो एक ही हैं परन्तु जो जैसा है वैसा ही वह समझता है।

४–दो भगवद्भक्तों में कितना मेल होता हैं, किन्तु दो सौत स्त्रियों में कितना विद्वेष रहता है।

५–कर्म और भक्ति—ज्ञान—पराभक्ति या प्रेम।

६–भगवान् बड़े कोमल हैं,—वे आंखों के आंसू सहन नहीं कर सकते। फिर उन्हें सर्वशक्तिमान् कैसे कहते हैं ?

७–ऐसी एक स्थिति होती है जब मालूम होता है कि वे ही 'मैं' 'मैं' करते हैं यह उनका ही शरीर हैं, वे ही साधन करते हैं।

८–आत्मसमर्पण कुछ दृढ़ होने से नियमित साधन बन्द हो जाता है।

९–दान परोपकार के लिए नहीं है, किन्तु अपने ही उपकार के लिए है। दान के लिये सुयोग ढूंढ़ना चाहिए और उस के मिलते ही अपने को कृतार्थ समझना चाहिए। जब विश्वेश्वर ही भिखारी हैं, तब अभाव का अभाव तो है नहीं। बस, मन होना चाहिए।

१०–कृपण से तो माँगकर दान वसूल करने की चेष्ठा करनी पड़ती है। भगवान तो स्वभाव से ही दाता हैं, उन से माँगना भी नहीं पड़ता, उन के पास बैठे रहने से ही सब मिल जाता है।

११–मन की गति तो भगवान की ओर ही है। केवल आसक्ति से ही वह अपने को नीचे की ओर खींचकर रखता है।

१२–प्रार्थना से असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाता है।

१३–जब भी ध्यान के लिये बैठ जाता हूँ कितने ही वैषयिक चिन्तन और संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं। उन सब को, थोड़ा शांत करके जब ध्यान करने के लिये तैयार होता हूँ, उसी समय सिर में खाज उठती है, मक्खी तंग करने लगती हैं और दूसरे मनुष्य कोलाहल मचाते हैं। इन सब को बन्द करते-करते पैर में दर्द होने लगता है। भगवान्! साधन किस तरह करूँ। मैं साधन-भजन नहीं कर सकूंगा। जब भी सम्भव होगा, तुम्हारा चिन्तन-स्मरण करूँगा। तुम्हारी जो खुशी हो, करना। यदि कभी साधन करने दोगे. तो करूँगा, नहीं तो और क्या करूँ? तुम्हारी कृपा का तो एकमात्र अवलम्बन हैं।

१४–नीति ही धर्म की भित्ति है, नीति को छोड़कर धर्म नहीं होता।

१५–स्वास्थ्य, संयम और सेवा, इन तीनों का मेल होने से धर्म लाभ सुगम हो जाता है।

१६–साधन—समर क्या है, जानते हो? एक पक्ष में रजः (रावण) और तमः (कुम्भकर्ण) हैं, और दूसरे पक्ष में सत्त्व (विभिषण) है। इन्हीं का परस्पर संग्राम होता है। तमः (कुम्भकर्ण) निद्रालु है और रजः (रावण) अभिमानी है। वह स्वयं ही कर्त्ता बनता, भगवान् की शक्ति को अपनी कहने का दावा करता है। सत्त्व क्यों सहन करेगा? वह प्रतिवाद करता है। इससे युद्ध आरम्भ हो जाता है। सत्त्व आत्म-सर्म्पण करता है इसलिए भगवान् ही उसका समस्त भार ग्रहण करते हैं। यह शरीर और मन सभी भगवान् के हैं, भगवान ही साधन करते हैं, वे ही लड़ाई करके रजः तमः का विनाश करते हैं। देह राज्य में विभीषण राजा हो जाता है। शांति उसी के द्वारा सुप्रतिष्ठत होती है। अच्छा, भगवान् तो एक क्षण में ही सब कुछ कर सकते हैं फिर दस महीने तक लड़ाई क्यों?

[केवल 'नीति, को मानने वाले नास्तिक इन्द्रजीत की मतवाली शक्ति से साधक को बहुत चंचल होना पड़ता है। ब्रह्मचर्य और निरभिमानता-रूप दास्य-भक्ति के द्वारा सुलक्षणयुक्त साधक को उसे परास्त करता है। 'नीति ही धर्म है' 'परोपकार ही कर्तव्य है"—जब इस प्रकार का अभिमान नष्ट होता है, तब रजोगुण नष्ट होने में अधिक देर नहीं लगती।]

१७–साधन मार्ग में इतना विघ्न आता है कि धैर्य और अध्यवसाय के बिना आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है।

१८–उनसे क्या याचना करूँ। मेरे लिये क्या आवश्यकता है, सो वे मुझ से भी अधिक अच्छा जानते हैं, एवं जिस समय जो आवश्यक है वह स्वयं ही वे देते और करते हैं।

१९–मन का ही मौन आवश्यक है! उसके लिये कभी-कभी तो वाणी की मौन की आवश्यकता है।

२०–वे ही मुक्त के वेष में हैं, और वे ही बद्ध के वेष में हैं; फिर कौन छोटा और कौन बड़ा?

२१–समाधि भी माया के राज्य में ही है।

२२–अनन्त का क्या अन्त है, जो तुम कुछ दिन साधन करते ही कार्य समाप्त कर दोगे? जितना आगे बढ़ोगे, उतना ही मार्ग शेष रह जायेगा। साधन तो जीवन पर्यन्त चलता है।

२३–भक्त किस नियम को मानना नहीं चाहता। भक्त की नौका विश्वास का पाल उठाकर स्थल में भी चली जाती है।

२४–मन शुद्ध न होने पर अनेक विषयों में शास्त्र का तात्पर्य समझ में नहीं आता।

२५–ब्रह्म-विद्या गुरु शक्ति है। शिष्य उसे गुरु से प्राप्त करता है। ब्रह्मविद्या ही त्राणकर्त्री-तारा है। चन्द्र ने उसे प्राप्त किया था। उसके 'बुध' नाम का पुत्र जन्मा—"जातो बोधमयः सुतः"। इन्द्र भी गुरु शक्ति को प्राप्त करके ज्ञानी हुए थे, इसलिये 'सहस्त्र-चक्षुः'—सर्वज्ञ है। इन्द्र-इदन्द्र।

२६–मन संसार में लिप्त रखते हुये केवल शरीर को लेकर वन में जाने से ही संन्यास नहीं होता। यदि मन संसार में लिप्त न हो तो शरीर को संसार में रखकर संन्यास हो सकता है।

२७—गुरु किसी श्लोक को शास्त्रों से उद्धृत करके कहते हैं, तथापि बहुत बार शिष्य उसे मौलिक (original) मानकर प्रचार करना चाहते हैं।

२८–शिष्यों की धर्मान्धता (Fanaticism) धर्मजगत में बहुत विशृङ्खलता उत्पन्न कर देती है।

२९–साधु को पहचानने के लिये स्वयं साधु होना चाहिये।

३०–यदि राम बाली से अनुरोध करते तो भी सीता का उद्धार हो जाता। हनुमानजी भी सीता को ला सकते थे। फिर इतने दिन लड़ाई क्यों की? श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान थे तो फिर इतना कौशल क्यों? और इतनी लम्बी लड़ाई भी क्यों? क्या कलि के अवतार दुर्योधन को सब बन्धुओं के साथ ध्वंस करने के लिये? ज्वर को कुनीन से दबाकर तत्काल पथ्य न देकर अभिज्ञ वैद्य बीमारी को मूल से उखाड़कर तब पथ्य क्यों देते हैं?

[परन्तु मैं रामायण और महाभारत को रूपक नहीं कहता जगत्गुरु विश्वरूप हैं न? उनका नाम 'सर्व' है। प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक घटनाओं से ही मानो वे हमें साधन का तत्त्व बतलाते हैं, हमें साधन मार्ग से सुपरिचित कराते हैं एवं अशरीरी चैतन्यमय गुरुरूप से हम लोगों को इच्छा या अनिच्छा से—परमहंसदेव के उत्तम वैद्य की नाईं उस मार्ग में खींच लेते हैं। भय या चिंता का कोई कारण नहीं है—शुभ-अशुभ, ऊँच-नीच सब मुझे वह एक ही बात

बताते हैं। सभी गुरु हैं—सभी उपदेष्टा हैं। आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त मैं सभी के प्रति प्रणत होता हूँ।]

३१–भगवान ही सब कुछ हैं—अच्छा-बुरा सब वे ही हैं। वे जगद्गुरु, मंगलमय शिव हैं, इसलिये वे रजः और तमो-गुण को भी इस तरह परिचालित करते हैं कि जिससे वे किसी समय पूर्णतया विलीन होकर जीव को शिवत्व प्रदान करे और शांति सुप्रतिष्ठित हो।

(३२-३३) × ×

३४–जगत में विश्वास का जितना अकाल हैं उतना और किसी का नहीं। क्या वे सर्वशक्तिमान नहीं हैं कि तुम पर कृपा नहीं कर सकते ?

'पंगु लङ्घते गिरिम्'–क्या ये शब्द वाग्-विलास मात्र हैं? विश्वासी बनो, 'जगत्-हितार्थं' श्रीकृष्ण पर निर्भर करो—पथ मिलेगा, प्रकाश आवेगा, और शांतिमय होंगे।

३५–क्या चिरकाल क-ख ही लिखना होगा ? ह-क्ष तक नहीं पहुँचना होगा ? यदि कदाचित् इसबार इतनी दूर न भी पहुँच सकूं तो भी क्या क-ख को लेकर ही रह जाऊं? क्या च-छ तक जाने से अधिक कल्याण नहीं होगा ? और यह भी कौन कह सकता है कि ह-क्ष तक जा ही सकूंगा?

३६–प्रायः सब लोग संवाद-पक्ष, लोक-मत और आशा-वासना से ही परिचालित होते हैं। उनके वचन का क्या मूल्य? बहुतों में विचार-शक्ति बहुत अल्प होती है। चाहे कोई कुछ कहे—तुम धैर्य से अपने कर्तव्य मार्ग पर बढ़ते चलो।

३७–भगवान को प्राप्त करना ही मानव जीवन का एकमात्र कर्तव्य है। जिससे उसमें सहायता मिले, वही धर्म है, वही पुन्य है और वही करणीय है। जो मुझे भगवन्मार्ग से दूर ले जाता है—वही अधर्म है, पाप है, और अकर्तव्य है। साधक के लिये यह एक ही विचार है।

३८–चाहे स्वयं नौका चलाकर पार हो जाओ, या जहाज के साथ नौका बाँधकर चुप बैठे रहो।

३९–क्या धर्मग्रन्थ अधिक पढ़ना चाहिये ? एक ग्रन्थ पढ़ना ही पर्याप्त है परन्तु मनुष्य प्रायः बे-समझ होते हैं। वे अनायास शास्त्र विषय को नहीं समझते इसीलिये एक ही बात को पुनः-पुनः सुनना पढ़ना चाहते हैं।

४०–भिखारी को देखते ही उसमें विश्वेश्वर का दर्शन करना चाहिये।

२९

ॐ

१—जैसे औषधि रोग को शान्त करने के लिए होती हैं; रोग बढ़ाने के लिए नहीं; वैसे ही नियम भी उन्नति के लिए ही होते हैं अवनति के लिए नहीं।

२—जैसे प्रत्येक औषधि प्रत्येक रोगी के लिए नहीं होती, वैसे ही प्रत्येक नियम भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं होता।

३—जब तुम समझो—(हाँ ठीक-ठीक समझना चाहिए!) कि किसी नियम से तुम्हारी हानि हो रही है, तो फिर तुम्हें उस नियम का अनुसरण नहीं करना चाहिए।

४—भले ही युक्ति और तर्क से योग और भोग का समन्वय करो और सन्यास की अनावश्यकता का प्रतिपादन करो, परन्तु यह बात अवश्य स्मरण रखना कि जबतक कुछ भी आसक्ति शेष है मुक्ति नहीं मिल सकती।

५—जबतक एक परमाणु में भी तुम्हारी आसक्ति रहेगी, तब तक तुम चाहे 'गिरि' बनो या 'पुरी' तुम्हारा संसार बना हुआ है।[1] ❀

---

१. ❀ गिरि, पर्वत सागर, तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, पुरी, भारती, सरस्वती—ये दसनाम 'सन्यासियों के हैं।

६—एक राजा की अपने राज्य के प्रति आसक्ति का जो फल है, वही फल हैं एक सन्यासी को अपने दण्ड-कमण्डलु पर आसक्ति रखने का। उनमें से प्रत्येक ही अपनी सारी सम्पत्ति में आसक्त है। सन्यासी की आसक्ति अधिक दोष-युक्त है, क्योंकि वह राजा की नाईं आसक्तचित्त होता हुआ भी त्यागी का बेश धारण करके स्वयं धोखे में रहता और दूसरों को भी धोखा देता है।

७—परन्तु केवल इस हेतु से गेरुआ वस्त्रधारी को देखते ही घृणा नहीं करनी चाहिये। गेरुआ वस्त्रधारी ने ऐसे अनेक विषयों का त्याग किया है जिन्हें त्यागने के लिए तुम्हें अभी बहुत समय तक साधना करनी होगी।

८—कभी-कभी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति अनायास ही राज्य एवम् ऐश्वर्य को त्यागकर सन्यासी हो जाता है, परन्तु पीछे एक तुच्छ कौपीन के लिए भी झगड़ा करने लगता है। इसका क्या कारण है, बता सकते हो ?

९—जितना सहन करना सीखोगे, उतनी ही अशान्ति दूर होगी।

१०—अब तुम कितना जल्दी-जल्दी लिख सकते हो। कौन-सा शब्द किस प्रकार से लिखना होगा, किस अक्षर का कैसा आकार है—इन सब विषयों में कुछ सोचना नहीं पड़ता। किन्तु पहले जब लिखना सीखते थे, उस समय इन बातों का कितना ख्याल रखना पड़ता था। अब कितनी जल्दी-जल्दी पुस्तकें पढ़ देते हो, किन्तु पहले-पहले पढ़नेमें कितना कष्ट होता था। जैसे अभ्यास ने लिखना पढ़ना सुगम

बना दिया है, वैसे ही साधन भी अभ्यास से सुगम हो जाता है।

११—साधारण व्यक्ति देखकर, सुनकर, या विचार कर बहुत नहीं सीख सकता। वह ठोकर खा-खाकर ही सीखता है।

१२—जो कुछ परोपकार कर रहे हो, सब अपने सुख के लिये ही है।

१३—जब नैवेद्य से पूजा होती है, तब यह कोई नहीं सोचता कि इस नैवेद्य के न मिलने पर देवता भूख से कष्ट पायेंगे, और मैं इस नैवेद्य द्वारा उनका उपकार कर रहा हूँ। सब यही सोचते हैं कि यदि देवता कृपापूर्वक इस नैवेद्य को स्वीकार कर लें तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। सेवा भी उसी भावना से होनी उचित है।

१४—कुछ 'सत्य' और कुछ 'मिथ्या' अभिमान को आश्रय करके यश की लिप्सा न जाने कितने साधकों को पथ-भ्रष्ट करना चाहती है।

१५—यश के लोभ से मनुष्य कितनी ही बार मिथ्या का आश्रय लेता है।

१६—जब तक आसक्ति है, तभी तक मिथ्या के जाल में फँसने की भी आशंका है।

१७—धैर्य के साथ विधि पूर्वक साधन करते रहो। बड़े आदमी होने की वासना से जल्दी-जल्दी वृक्ष पर चढ़ने की इच्छा से कूदो मत। ध्यान रखो, जिससे पैर टूट न जाए।

१८—साधना में, शिथिलता अच्छी नहीं है। उद्यम, उत्साह और लक्ष्य की सिद्धि के लिए तीव्र व्याकुलता होनी चाहिए।

१९—कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति हत्या के दण्ड से बचने के लिए साधु बन जाता है, पीछे साधुओं के साथ रहते हुए मन सुधर जाता है और वह सच्चा साधु बन जाता है।

२०—जब आत्म-समर्पण पूर्ण होगा, तब मन पूरी तरह भगवान में रहेगा—वह अन्य किसी भी विषय की ओर नहीं जावेगा।

२१—जब नीरस मुहूर्त आवे और कुछ भी अच्छा न लगे, तब भी मन, चाहे साधन में डूबे अथवा न डूबे, उसे बलपूर्वक साधन में लगाए रखना चाहिए।

२२—सिद्धि-प्राप्ति के ठीक पहिले कुछ भयंकर सन्देह, अश्रद्धा और अविश्वास आ सकते हैं। उस समय स्थिर न रहने से कठिनाई उत्पन्न होती है।

कर्णवास,
७-११-१९१६ ई०

३०

ॐ

१—मैं लखपति आदमी हूँ, मेरे बराबर धनी कितने हैं ? मैंने कितनी पुस्तकें लिखी हैं, मेरे बराबर और किसका कवित्व है ? मैं छाती पर तीन मन बोझा रख सकता हूँ, मेरे बराबर और कौन शक्तिमान है ?'—इस प्रकार जो जिस दृष्टि से बड़ा है, वह उसकी ही प्रशंसा करता रहता है, सभी बड़े बनने को, और अपनी प्रशंसा कराने को आतुर रहते हैं। फिर अन्यान्य प्रशंसाओं की तुलना में संसार में बुद्धि की बड़ाई बहुत अधिक है। परन्तु क्या तुम्हें मालूम है कि बुद्धिजीवी मनुष्य मानव दृष्टि को आकर्षित करने के लिये जिन तरह-तरह की योजनाओं के हवाई महल बनाते रहते हैं, उनकी नींव कहाँ रहती है ? "मैं दुर्बल क्षणभंगुर, जरामरणशील शरीर नामधारी जड़ पिण्ड हूँ। मेरी लम्बाई केवल साड़े तीन हाथ है-" यह अज्ञान ही उसकी सुदृढ़ नींव है। इस मिथ्या अज्ञान पर ही प्रतिष्ठित रहते। हाय मानव का अभिमान ! हाय ! मानव की बुद्धि !

२—जो मनुष्य जन धन, विद्या, और शक्ति के कारण अभिमान नहीं कर सकता; वह भी अधिक नहीं तो दो चार विशिष्ट बन्धुबान्धवों के सामने अपने बुद्धि कौशल के विषय में प्रचार करके आनन्दानुभव कर लेता है। साधारणतया

मनुष्य जितनी सुगमता से अन्य सब प्रकार के कलंको का बोझा उठाने को तैयार हो जाता है उतनी सुगमता से बुद्धिहीनता का कलंक सहन करने को राजी नहीं होता। अपनी बुद्धि की प्रशंसा करनी, अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ स्थान देना, अपनी बुद्धि की कसौटी पर ही दूसरों की 'दुर्बुद्धि' का मूल्य निर्धारण करना—यह सब मानों मानवजाति के अपरिहार्य साधारण धर्म हैं। किन्तु अच्छा हो, यदि मनुष्य एक बार भी सोच सके कि बुद्धि तो अज्ञान का ही ज्येष्ठ पुत्र है और अज्ञान की सीमा के भीतर ही उसकी सब व्यर्थ चेष्टाएं आबद्ध है।

३—गत भाद्रपद मास के दूसरे सप्ताह में श्री काशीधाम से पराञ्जपे पाण्डे नाम का एक व्यक्ति वृन्दावन धाम आया था। रात्री के समय उसे सेवाकुंज में श्रीकृष्णलीला विलास का दर्शन होगा—यह आशा ही उसके आगमन का कारण थी। किन्तु सेवाकुञ्ज में रात्री के समय किसी का भी भी रहना नियमविरुद्ध है। कहते हैं, पशुपक्षी भी उस समय वहाँ नहीं रहते। अतः पाण्डे को भी रात्री में वहाँ रहने की अनुमति नहीं मिली। कोई अन्य उपाय न देखकर एक दिन शाम के समय वह सेवाकुञ्ज जाकर एक झाड़ी में छिप गया। कोई उसे देख न सका। संध्या के समय पुजारी द्वार बन्द करके चला गया। दूसरे दिन प्रातःकाल द्वार खोलकर जब पुजारी ने अन्दर प्रवेश किया तो देखा कि मन्दिर के सामने पाण्डे मूर्च्छित स्थिति में पड़ा है। उसमें बैठने की भी सामर्थ्य नहीं थी। पुजारी ने भयभीत और त्रस्त होकर पुलिस को यह सूचना दी। पुलिस कर्मचारियों ने पाण्डे की मृत्यु समीप जान-कर तुरंत उसे अस्पताल में पहुँचाया। पाण्डे की बोलने की

सामर्थ्य नहीं थी। इसलिये अस्पताल के डाक्टर मि० गुप्तने उसे कागज और पेन्सिल दिये। प्रश्न हुआ "क्या तुमने सेवाकुञ्ज में ठाकुरजीके दर्शन किये?" हाथ जोड़कर उसने भगवानको उद्देश्य करके नमस्कार किया और सिर हिलाकर सूचित किया कि उसे श्रीकृष्ण दर्शन हुए हैं–प्रश्न हुआ, "कितने व्यक्तियों को देखा?" उसने दांयें हाथकी अंगुली दिखलाकर समझाया–"पांच व्यक्तियों को।" "पुरुष कितने थे?" दांयें हाथ की अँगुली के इशारे से उसने सूचित किया 'एक'। 'स्त्रियाँ कितनी थीं'? उसी प्रकार से उत्तर दिया "चार"। वहाँ पर क्या देखा? पाण्डे ने लिखकर बताया–"नित्यलीला का दर्शन हुआ। किन्तु जो कुछ मैंने देखा है वह बोलने नहीं देते"। "थोड़ी दवाई पीओ अभी स्वस्थ हो जाओगे, बातकर सकोगे।" उत्तर दिया– "मेरा जन्म सफल हो गया, जीवन धन्य हुआ। अभी मेरी मृत्यु होगी। मैं दवाई नहीं पीऊंगा"। बस, थोड़े समय पीछे हो पाण्डे ने शरीर छोड़ दिया। मृत शरीर के साथ हजारों मनुष्य यमुनातट पर पहुँचे। अचानक कहीं से एक अपरिचिता स्त्री आई और शव का मुँह यमुना के जलसे अच्छी तरह धोकर दूसरे क्षण में ही एकदम अन्तर्हित हो गई। ऊँचे स्वर से भगवान का नाम उच्चारण करते हुए समवेत व्यक्तियों ने पाण्डे की अन्त्येष्ठि क्रिया की। सार्थकजन्मा पराङ्गपे आनन्दमय का दर्शन करके आनन्दधाम में पहुँचा। और साधारण व्यक्तियों ने उसके श्राद्ध की मिठाई खाकर ही प्रसन्नता अनुभव की।

४—जब तक शरीर के अधीन हो, तबतक पराधीनता का अन्त कहाँ है?

५—चाहे कितने ही सत्कर्म करते रहो, कुछ आगे बढ़नेपर ही मालूम होगा कि देहासक्ति तुम्हें बाधा डाल रही है।

६—जबतक थोड़ा-सा भी 'छोटा अहम्' रक्खोगे तबतक तुम चाहे सत्कर्म करो, असत्कर्म करो या कर्मत्याग करो— सभी दोष के कारण होंगे, सभी बन्धनरूप होंगे। और जब तुम 'बड़ा अहं' स्वीकार कर लोगे, तब चाहे कुछ भी कर्म करो या न करो, किसी प्रकार से भी तुम्हारा बन्धन नहीं होगा।

७—सम्भवतः तुम्हें स्मरण होगा कि "शुक्रग्रह से (एकाक्षी शुक्र' से—जो एकाक्षी होने के कारण दूरी का निर्णय करने में असमर्थ है—अर्थात असम्यक्दर्शी है) एक परिव्राजक तीन चार वर्ष पहिले पृथ्वी पर्यटन के लिये आये थे। समाचार पत्रों में भी उनके विषय में बहुत चर्चा हुई थी। बहुत देशों में पर्यटन करके तथा बहुत से विषयों की पर्यालोचना करके, किसी समय वे 'ब्रज मोहन विद्यालय' (ब्रज मोहन— भगवान् श्रीकृष्ण—उनका विद्यालय—यह जगत या संसार) देखने के लिये आये। वह दिन शुक्रवार था। आकर देखा कि चार बजे तक विद्यालय का कार्य चल रहा है। उससे अगले दिन शनिवार था। उस दिन आकर देखा कि बहुत समय रहते हुए भी डेढ़ बजे ही विद्यालय बंद हो गया। उससे अगले दिन रविवार था, देखा कि एकदम बन्द। फिर सोमवार के दिन देखा कि पुनः चार बजे छुट्टी हुई। उन्होंने सोचा—मैं कैसे मूर्खों के देश में आया हूँ। यहाँ पर तो कुछ भी नियम प्रणाली नहीं है। किसी दिन चार बजे छुट्टी होती है, किसी दिन डेढ़ बजे और किसी दिन विद्यालय बिल्कुल नहीं खुलता। इस अराजकता के राज्य में— उच्छृङ्खल देश में अधिक समय रहना बुद्धिमानी का काम नहीं है। यह निश्चय करके जब वे लौट रहे थे, उन्हें अचानक सड़क पर पूजनीय मुखोपाध्याय श्रीमत्

जगदीशजी (मुखोपाध्याय–श्रेष्ठ आचार्य 'जगदीशजी'–भगवान् अर्थात गुरुरूपी भगवान) मिल गये। मुखोपाध्याय महाशय ने उन्हें एक महीना रहकर विद्यालय के कार्य का परिदर्शन करने के लिए अनुरोध किया। उन्होंने ऐसा ही किया। जब उन्होंने देखा कि सभी शनिवार को डेढ़ बजे छुट्टी होती है, सभी रविवारों को बंद रहता है, और दूसरे दिनों में चार बजे छुट्टी होती है, सब उन्होंने सम्यक् दर्शन के द्वारा समझा कि पहिले संकीर्ण समय को घटनाओं पर दृष्टि आबद्ध रहने से संकीर्ण दृष्टिके कारण जहाँ अनियम—नियम का व्यतिक्रम या उल्लंघन मालूम होता था वहाँपर वस्तुतः नियम का अभाव नहीं है। वह भी एक बड़े नियमके अधीन ही है, वहाँपर भी एक बड़ा नियम सुशृङ्खला के साथ अप्रतिहत प्रभाव से कार्य कर रहा है। जितना दोषारोपण या जितनी असमंजस की प्रतीति थी वह सभी—असम्यग्दर्शन का ही परिणाम था।

८—बाहर त्यागी का वेष और भीतर घोर संसार,—यह अच्छा नहीं है।

९—जिस साधक को, दूसरों को प्रसन्न रखना पड़ता है, उसके लिये साधन में उन्नति करना कठिन है। साधक को तो भगवान के अतिरिक्त एकमात्र गुरुदेव के ही अधीन रहना चाहिए—और किसी के भी नहीं।

१०—जिस परिमाणसे तुम्हारा वैराग्य बढ़ता है और आसक्ति कम होती है, उसी परिमाणसे तुम उन्नतहोते हो।

११—श्रीहनुमानजी ने लंका में जाकर सोचा कि रावण को उसके वंश सहित ध्वंस करके श्रीसीताजी को रामचन्द्रजी के पास ले जाने में समर्थ भी हूँ; तथापि मैं ऐसा करूँगा नहीं। प्रभु रामचन्द्र ही ऐसा करें। उन्हीं को उसका सब यश प्राप्त हो।

★

३१

ॐ

१—पिता ने पुत्रों को बाजार में छोड़कर कहा, 'जिसकी जो इच्छा हो बाजार से खरीद लो ? फिर घर चलेंगे। कोई पुत्र तो उसी समय घर की ओर दौड़ा। कोई दो चार घण्टे खरीददारी करके घर की ओर चला। और कोई बाजार में ही लगा रहा। उसे घर लौटने का स्मरण भी न रहा।

२—लोक हितैषणा, शारीरिक सुख और यश में आसक्ति—ये तीनों बातें बहुत बढ़े-चढ़े साधक को लक्ष्य से च्युत कर देती है।

३—मन में चाहे किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प हो, उसके मूल में किसी न किसी प्रकार की आसक्ति रहती ही है।

४—जब किसी प्रकार का सुख या आराम मिलने पर कोई व्यक्ति कहता है, भगवान की कितनी कृपा है। तभी समझना चाहिये कि उसकी सुख या आराम में बहुत आसक्ति है, उसकी आसक्ति तो है ही, साथ ही 'भगवान मंगलमय हैं'—'सुख दुःख सभी अवस्थाओं में उनकी करुणा समभावना से प्रवाहित रहती है'—यह धारणा और विश्वास भी उनमें नहीं है। परन्तु इस एक ही कारण से ऐसे व्यक्ति को बुरा नहीं कह सकते। यह भी जीवन का एक सोपान ही है।

५—कई बार तो संसारिक मित्र, गुप्त वेषधारी शत्रु और संसारिक शत्रु गुप्तरूप से मित्र ही होते हैं। भगवान से लेकर यहाँ सभी लोग मन को लुभाने वाले कृत्रिम वेष बनाए हुए हैं।

६—आँख, कान, वाणी और मन इनपर सर्वदा ही प्रहरी रखने पड़ते हैं। जिससे वे कभी लक्ष्य भ्रष्ट न हो जायें।

७—जहाँ पर Policy (कूटनीति) Compromise (समझोता) है, वहाँ पर ही आसक्ति और संसार है।

८—किये जाने वाले प्रत्येक कार्य को साधन के अन्तर्भूत करना चाहिये। समग्र जीवन ही एक साधन है। किन्तु अवसर आने पर अच्छी वस्तु अपने लड़के को और घटिया वस्तु दूसरे के लड़के को देना, और अपने कुटुम्बियों की बीमारी के समय व्याकुल होना, एवं दूसरे की विपत्ति के समय उदासीन रहना—ऐसा होने से कैसे काम चलेगा ?

९—भगवत्कृपा के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिये सर्वदा कम से कम जितने समय सम्भव हो भगवान में मन एकाग्र करना और यथा सम्भव सरल मन से उनकी कृपा की भिक्षा माँगनी चाहिये।

३२

ॐ

१—श्रुति कहती है:—

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।'

अर्थात्—जैसे मनुष्य चमड़े को लपेटने के समान आकाश को लपेटने की व्यर्थ चेष्टा करता है, वैसे ही परमात्मा को बिना जाने दुःख का अन्त करने की चेष्टा भी व्यर्थ है।

२—नवीन बाबू ने कहा था, "भले ही मजदूरी करके जीविका उपार्जन करूँगा। किन्तु नौकरी को सुरक्षित रखने के लिये अनुचित कार्य नहीं करूँगा।

३—बारिशाल में एक नौकरी-पेशा व्यक्ति था। कोर्ट के समय उसके पास कभी कोई वकील या मुख्त्यार और कभी कोई दूसरा आदमी आता था। वे हस्ताक्षर करने, चिट्ठी पर पता लिखने या किसी दूसरे कार्य के लिये उससे दवात कलम माँगते थे। एक दिन उसके मन में संकल्प उठा कि इस प्रकार से सरकारी वस्तुओं को प्रयोग करने का तो मेरा अधिकार है नहीं। अतः मैं अपने या दूसरे के लिये इनका प्रयोग भविष्य में नहीं करूँगा।

जैसा विचार वैसा ही कार्य होता है। उसी समय से वह उस प्रकार के कामों के लिये अपने खर्च से दवात कलम और ब्लॉटिंग पेपर प्रभृति मँगाकर रखने लगा।

४—स्वधर्म-निष्ठ महाराज 'शिबि' ने कहा था, "इस कपोत ने जब मेरा आश्रय लेना चाहा है, तब मैं भी किसी प्रकार इसका परित्याग नहीं करूँगा। न्याय की तथा धर्म की मर्यादा रखने और क्षत्रिय के कर्तव्य को पूरा करने के लिये मैं अपने शरीर का मांस प्रदान करके भी इसकी रक्षा करूँगा।

५—प्यारेलाल घोष के गृहत्याग का संवाद श्रवण कर उनके पिता ने कहा था, जो काम बहुत पहिले ही सम्पन्न करना था, प्यारेलाल ने उसे ही मुझे याद करा दिया। अच्छा तो अभी यह कर्त्तव्य सम्पन्न होगा। बस! उसी समय उन्होंने ईश्वर आराधना के उद्देश्य से संसार त्याग दिया।

६—दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् शिष्य ने कहा, मैं गुरु दक्षिणा रूप से इस देह को (गुरुदेव के) चरणों में समर्पित करता हूँ।

७—ब्रह्मानन्द गिरि की इष्टदेवी स्वप्न में उनके सामने प्रकट होकर बोली "तुझे अपने गुरु से जो मन्त्र मिला, वह अशुद्ध है। इस विल्व पत्र को ले और इसमें जो शुद्ध मन्त्र लिखा हुआ है उसका जप किया कर। किन्तु ब्रह्मानन्दजी गुरुदत्त मन्त्र को छोड़कर देवीदत्त मन्त्र स्वीकार करने को प्रस्तुत न हुए।

८—एक साधुने कहा था, "गुरुजी से जब मन्त्र मिला, तब मन अत्यन्त चञ्चल था। गुरुदेव का आदेश पालन करने के लिये जप करता रहा। मन इधर-उधर घूमता था, परन्तु

मैं जीभ से मन्त्र उच्चारण करता रहता था। इसी स्थिति में सात वर्ष बीत गये। पीछे जप में थोड़ा आनन्द मिलने लगा। फिर तो जबतक जप करता था, तबतक उसी में मन बहुत एकाग्र रहने लगा। फिर दूसरे कामकाज में भी ऐसा ही मन लगता था। इसी स्थिति में दो वर्ष बीते। अन्त में दीक्षा ग्रहणके नौ वर्ष पीछे, जप में एक अतुलनीय आनन्द का आस्वादन होने लगा। उस आनन्द की तुलना में विषयानन्द फीका लगने लगा। तब से मन प्रपञ्च की ओर नहीं जाता, जप छोड़ने की रुचि नहीं होती। अब तो निरन्तर जप चल रहा है। आनन्द समुद्र में डूबा हुआ हूँ।

९—रामानन्दने कहा था, "कितनी पुस्तकें पढ़ चुका हूँ, कितने तीर्थों में घूमा हूँ, कितने मन्दिरों में कितनी मूर्तियों के दर्शन किये, कितनी दौड़-धूप की, किन्तु अब मेरा मन घूमना फिरना नहीं चाहता। अब वह सर्वदा ही निर्निमेष नयनों से अपने इष्टदेव का—अपने हृदय विहारी प्राणाराम का दर्शन करता है। वे ही सम्पूर्ण स्थान को पूर्ण करके स्थित हैं।

श्रीकाशीधाम
२४ पौष १३२५ बंगाब्द

३३

ॐ

नारायणेषु,

पूजनीया श्री श्री.....तुम्हारी गुरु हैं। वे ही आध्यात्मिक राज्य में तुम्हारी मार्ग प्रदर्शिका हैं। वे ही तुम्हारी एकमात्र चालिका हैं। उनपर ही पूर्णतया निर्भर करो।

संसार में अपने और पराये ऐसे कितने ही लोग हैं जिनसे तुम्हारी साधना में थोड़ा-बहुत विघ्न हो सकता है, किन्तु गुरु से साधन में किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं हो सकता। उनसे विघ्न की सम्भावना तो है ही नहीं, प्रत्युत अध्यात्म मार्ग में वे ही तुम्हारे एकमात्र साथी हैं। वे सम्पूर्ण रूप से तुम्हें जानते हैं, तुम्हारे सब प्रकार के अभावों को वे जानते हैं। तुम्हारे लिये क्या आवश्यक है, उसे भी वे समझते हैं, और जो कुछ करने से तुम्हारा सच्चा कल्याण होगा, उसकी भी वे सर्वदा व्यवस्था करते रहते हैं। उनसे तुम्हारी हानि नहीं हो सकती।

इसलिये सर्वदा सर्व प्रयत्न के साथ उन्हीं का आश्रय लेकर रहो। जो कुछ जानने योग्य है वह उनसे ही जानो, जो कुछ कहना हो, उनसे ही कहो। उन्हीं पर तुम्हारा

भरोसा होना चाहिये। और वे ही तुम्हारे अवलम्बन हैं, सर्वदा उनके कथन पर ही चलना, उनकी ओर ही दृष्टि रखना (तथा) कभी भी उनपर संशय न करना।

तुम्हारे लिये तुम्हारे गुरुदेव से बड़ा और कोई नहीं है; और न हो ही सकता है। गुरु और इष्टमें अभेद है। गुरु किसी से किसी भी प्रकार कम नहीं होते—इस बात पर विश्वास रखना। और इसे सर्वदा स्मरण रखना। तुम्हें जिस समय जो कुछ आवश्यक होगा, वह सब उनसे ही मिलेगा। उसके लिये दूसरे के द्वार पर कभी भी जाना नहीं पड़ेगा—यह बात ध्रुव सत्य है।

जिसकी गुरु में निष्ठा है, उसे क्या भय है? गुरु पर जिसकी निर्भरता है, उसका यम तथा संसार से भय नष्ट हो जाता है। देवता उसकी किंचिन्मात्र हानि नहीं कर सकते। जिसने गुरुदेव के प्रति आत्म-समर्पण किया है, वह किसी आपत्ति या विपत्ति की परवाह नहीं करता, और न किसी भ्रू-भंगी से डरता है। वह निर्भीक होकर संसार समुद्र से पार हो जाता है। जिसमें गुरुनिष्ठा है वह क्यों दूसरों से सहायता की याचना करेगा, क्यों दूसरे की बातें सुनने में आग्रह रखेगा, क्यों दूसरों पर निर्भर रहेगा? क्यों कर दूसरे को व्यर्थ ही खुश करने की चेष्टा करेगा और क्यों दूसरों के असन्तोष के कारण भयभीत होगा? क्या तुम्हारे गुरुदेव किसी से कम हैं? क्या वे तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ हैं? क्या वे तुम्हारे लिये शुभाशुभ हैं, नहीं समझ सकते? क्या वे तुम्हें सन्मार्ग पर चलाने में असमर्थ हैं? क्या वे तुम्हें सब प्रकार की आवश्यक वस्तु प्रदान नहीं कर सकते? अन्य किसी के उपदेश

की क्या आवश्यकता हैं ? यदि दूसरे का उपदेश गुरुवाक्यों से मेल रखता हो, तब तो वह निष्फल ही है। अतः अन्य किसी का भी आश्रय स्वीकार नहीं करना चाहिये। यदि तुम अन्य व्यक्ति पर किंचिन्मात्र भी निर्भर करोगे, तो उससे तुम्हारी गुणभक्ति में कमी ही प्रमाणित होगी, और यह भी सिद्ध होगा कि तुम सम्भवतः अपने गुरु को दुर्बल और असमर्थ समझते हो, यदि गुरु के विषय में तुम्हारी ऐसी ही धारणा रही तो तुम शिष्य होने के योग्य ही नहीं हो।

गुरु के सामने अन्धे बन जाओ। तुम्हारी या किसी दूसरे की बुद्धि गुरु की बुद्धि से श्रेष्ठ नहीं है—यह विश्वास करो। अन्य किसी की भी बातों पर ध्यान मत दो।

जो तुम्हारी गुरुनिष्ठा को कम करता है, वह तुम्हारा शत्रु है, उसका संग तुरन्त त्याग दो। आध्यात्मिक मार्ग बहुत ही दुर्गम है। सर्वदा सावधान रहना पड़ता है। जो गुरु की गोद में है, उसको कुछ भी भय नहीं।

शिवमस्तु इति।

३४

ॐ

नारायणेषु,

गंगाजी के तटपर एक बहुत ही प्राचीन अश्वत्थ वृक्ष है। उस वृक्ष की सबसे ऊँची शाखा पर एक प्यासा चातक आकाश की ओर दृष्टि किये बैठा है। ऊपर एक बादल का टुकड़ा दिखाई देता है। 'उससे बरसने वाले जल से मेरी पिपासा-शान्त होगी'—यही उसकी आशा और आकांक्षा है। कलनादिनी भागीरथी नीचे बह रही हैं, किन्तु उसकी ओर चातक का कुछ भी ध्यान नहीं है। भले ही प्यास से उसका कलेजा फट जाय तो भी वह वारिद-वारि के अतिरिक्त कोई दूसरा जल पीने को तैयार नहीं है गंगाजल तुम्हारे हमारे लिये मनोहारी होने पर भी चातक के चित्त को आकर्षित नहीं कर पाता। इसलिये वह ऊपर को दृष्टि किये स्थिर बैठा हुआ है। उसी समय एक वाघ ने आकर वाण छोड़ा, छटपटाता हुआ चातक गंगाजी के गर्भ में गिर पड़ा। मृत्युयातना के साथ-साथ उसकी पिपासाका वेग भी मानो सौ गुना बढ़ गया। ऐसी स्थिति में वह सुलभ अत्यन्त सुप्राप्य गंगाजल से अपनी तृष्णा शान्त करेगा, क्या हम यही आशा नहीं रखते ? उस समय उसे गंगाजल सुप्राप्य ही नहीं था अपितु गंगाजी की गोद में प्रायः डूबने वाले और अत्यन्त थके मांदे उस पक्षी का उस समय उसे न पीना भी

बहुत ही कठिन था। किन्तु जानते हो उसने अपने देह और मन की सारी शक्ति से अपनी चोंच को दृढ़ता से भींचकर मुंह बन्द कर लिया, जिससे उसके पेट में एक बूंद भी पानी न जा सके ताकि अपने सारे जीवन के अभ्यस्त उपायों द्वारा, इस अन्तिम मुहूर्त में भी वह विचलित न हो।

इस चातक की न्याईं जो अश्वत्थ रूप संसार में ऊँचे चढ़े हुए हैं, वे जीवन का बलिदान उपस्थित होने पर भी विषय भोगों के द्वारा क्षणिक शान्ति प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते। इस चातक का जिस प्रकार बादल के प्रति आकर्षण था, वैसा ही यदि तुम्हारा भी भगवान के प्रति अनुराग होता तो क्या तुम दूसरे की बात सुनकर भगवन्मार्ग को छोड़ने के लिये तैयार होते? जैसे चातक की दूसरे जल में वितृष्णा थी, वैसी ही यदि तुम्हें भी विषय-वितृष्णा होती तो क्या तुम बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करना स्वीकार करते? क्योंकि तुम परामर्श देने वालों की बातों से सहमत हुये, इसी से उनका परामर्श उचित प्रमाणित हुआ। अपनी दुर्बलताको दूसरे के कन्धे पर नहीं लादना चाहिऐ। अपने दोषों का ख्याल रक्खो और उन्हें सुधारने की चेष्टा करो। दोषको छिपाओ मत। यदि दोष को मिटा सकोगे, तो आज या कल अवश्य शान्ति प्राप्त करोगे। इसलिये कहता हूँ, संयम और तितिक्षा का अभ्यास करो, विचार और वैराग्य को प्राप्त करो एवं श्रद्धा और भक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करो। इन सद्गुणों के साथ बी.ए.,एम.ए पास करने का सम्बन्ध बहुत ही कम है। अनेकों जन्मों में अनेकों बार बी.ए.एम.ए पास करके बहुत लोग जिस अन्धकारमें पड़े है, उसी में पड़े रहते हैं। परन्तु कोई-कोई भाग्यशाली पुरुष

जीवन के उषा काल में ही मुक्ति-मण्डप के समीप आ जाते है। अतः धर्मलाभ को भविष्य के लिये छोड़ना ठीक नहीं होगा। भविष्य में क्या होगा, कौन जाने ? और वर्तमान में जिन कर्मों में लिप्त रहोगे, क्या वे धर्म से अधिक श्रेष्ठ है ? अनन्त अतीत-काल में अच्छे होने के कितने ही सुयोग गंवाये है। यदि उनका सदुपयोग करते तो आज अवश्य ही इस स्थिति में न होते। जो होना था सो हो चुका, अब जो सुयोग उपस्थित है, उसका दुरुपयोग करके भविष्य में अनुताप का मार्ग न खुले उसके लिये सचेत हो जाओ। अभी से अच्छा होने के लिये प्रतिज्ञा करो, और उस प्रतिज्ञापालन के लिये प्रयत्नशील हो जाओ। परन्तु ख्याल रखो कि जल्दी से बड़े होने के लिये उच्छृङ्खलता का परिचय भी न देने लगो। धैर्य के साथ विधिपूर्वक चलते रहो।

श्रीवृन्दावन धाम।
३० चैत्र १३२६ बंगाब्द।

३५

ॐ

नारायणेषु,

रातदिन तपस्या करते रहो। तपस्या के लिये ही जन्म और तपस्या के लिये ही जीवन मिला है। एकमात्र तपस्या ही सब दोषों को दूर करने में, सब विघ्नों को हटाने में और प्राप्तव्यों को प्रदान करने में समर्थ है। एकमात्र तपस्या ही साधक की सम्पत्ति है, तपस्या ही साधक का अवलम्बन है, तपस्या ही साधक का एकमात्र कर्तव्य है। जो क्षण बिना तपस्या के व्यतीत होता है वह व्यर्थ ही जाता है। इसलिये प्राणप्रण से तपस्या करते रहो। दूसरी ओर ध्यान न देकर, सब सोच विचार छोड़कर निरन्तर तपस्या करते रहो। विघ्न की कल्पना मत उठाओ; और उन्नति-अवनति के विचार में भी समय नष्ट न करो। केवल तपस्या, तपस्या, केवल तपस्या ही तुम्हारा अवलम्बन हो।

तुम्हारी तपस्या प्रत्येक श्वाँस-प्रश्वांस में, प्रत्येक कर्म और भाव में, प्रत्येक स्पन्दन में प्रवाहित हो। शरीर और मन तपोमय बन जायँ। फल अवश्य मिलेगा। किन्तु फल की अकांक्षा मत करो। फल पर दृष्टि भी मत रक्खो। क्या तुम इतने क्षुद्र हो कि सफलतारूप रिश्वत के प्रलोभन से तपस्या करोगे? तपस्या को ही तपस्या का फल मानो। तपस्या से प्रेम करना सीखो। जो तपस्या को दुष्कर

समझता है वही सोचता है कि कब इसके पार जाकर थोड़ा दम लूंगा और इसी ख्याल से उसकी अन्तिम फल की ओर सतृष्ण दृष्टि रहती है। यह जो तपस्या के प्रति प्रेम का अभाव अथवा तपस्या के अतिरिक्त किसी अन्य स्थिति से प्रेम होना है—यही पूर्णता लाभ में एक बहुत बड़ा विघ्न है। जीवन ही तपस्या है, तपस्या ही जीवन है—यह अनुभव करो, एवं सारी शक्ति को तपश्चर्या में लगाकर सर्वतोभावेन तपोधन बनो।

शिवमस्तु।

३६

ॐ

नारायणेषु,

रातों-रात बड़े आदमी होने की (व्यर्थ) आकांक्षा मत करो। छलांग मारकर वृक्ष की चोटी पर चढ़ने की चेष्टा न करो। शनैः-शनैः विधिपूर्वक कार्य करते रहो।

स्वार्थ को कम करते रहो और जब जितना अधिक सम्भव हो—परार्थ और परमार्थ के लिये प्रयत्न करो। ऐसा लक्ष्य रखो कि जिससे कुछ दिन पीछे स्वार्थ और परार्थ

को भूलकर परमार्थ में ही मग्न रह सको। स्वार्थ और परार्थ कभी परमार्थ के प्रतिकूल न हों। जितना अधिक सम्भव हो भगवान में मन रखो। पवित्रता की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ बनो। जब स्वप्न में भी अपवित्रता नहीं भासेगी, तभी पवित्रता सुप्रतिष्ठित होगी, उस समय तक सर्वदा सावधान रहना होगा, इसे याद रखो।

जो व्यक्ति परदोष दर्शन परित्याग करता है एवं अपना दोष देखकर उसे योग्य उपायों द्वारा संशोधन करने में यत्नवान् होता है, वह जल्दी ही उन्नति प्राप्त कर सकता है।

विषयों में दोषदर्शन करो। देह की अनित्यता के विषय में चिन्तन करो। अभिमान के शिर पर डंडे से प्रहार करो तथा जनसंग और व्यर्थ कर्म का परित्याग करो।

जब जो कुछ कर्म करो, अत्यन्त एकाग्रचित्त से और भलीभाँति सम्पन्न करने की चेष्टा करो। बेगार की तरह अवहेलनापूर्वक कर्म करने का अभ्यास मत करो। कर्तव्य बोध से और भगवत्प्रीति के लिये ही कर्मों का सम्पादन करना होगा। जिसे अन्याय समझते हो, उसे कभी भी न करना। लोक-रञ्जन तुम्हारा उद्देश्य नहीं है, जगज्जननी को सन्तुष्ट करना ही तुम्हारा लक्ष्य है। परन्तु इसी हेतु से शिष्टाचार का परित्याग नहीं करना चाहिये।

कर्म जीवन में नियम के राजत्व को प्रतिष्ठित करो। स्नान, भोजन, निद्रा, उपासना प्रभृति सारे कर्म ही किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार करने होंगे, प्रतिदिन ठीक समय पर स्नान करना, ठीक समय पर एकही शय्या पर सोना

ठीक समय पर निश्चित समय तक निर्दिष्ट स्थान में भ्रमण करना। योग्य समयपर योग्य स्थान में योग्य आसनपर बैठकर यथाविधि ध्यान भजन करना, समय पर योग्य पुस्तकें पाठ करना। इस प्रकार दूसरे कर्तव्य कर्म भी यथासमय योग्यविधि से सम्पन्न करने होंगे। अपनी वस्तुओं को निर्दिष्ट स्थान पर रक्खो और यथासम्भव अपने दैनिक कर्म सम्पादन के उपायों का निर्णय करने का प्रत्यन करो। इस प्रकार करने से समय भी बहुत बचेगा और परिश्रम भी कम होगा। इस प्रकार अभ्यास होने पर उपासना के निदिष्ट काल में मन स्वतः ही प्रशान्त होने लगेगा और एकाग्रता के लिये अधिक यत्न की आवश्कता नहीं रहेगी—यह अनुभव करोगे। यदि नियम ठीक रहे तो रात्री में दियासलाई ढूंढ़ने के लिये हैरान नहीं होना पड़ेगा। इसके सिवा दूसरा एक बड़ा लाभ होगा कि नियम के कारण प्रतिदिन के सारे कर्म अभ्यास में परिणत हो जायेंगे। तब उनकी ओर अधिक ख्याल देने की आवश्कता नहीं रहेगी। शरीर मानों यंत्रवत् स्वतः ही सर्व कर्मों को करता रहेगा और कर्म करते हुए भी तुम्हें मन को भगवान में रखना सहज सिद्ध होगा। साधारणतः किसी युवक का जब कुर्त्ता खरीदने का समय आता है, तब वह बहुत चिन्तातुर होता है। किस कपड़े का, किस रंग का, किस फैशन का कुर्त्ता हो, किस दुकान से, किस मूल्यमें खरीदना होगा—यह निश्चय करनेके लिये उसके मनमें जो तरंगें उठती हैं, वे उसके मित्रों को भी चंचल बना देती है। आखिर वह इस दुकान, उस दुकान पर जाता है और अपनी पसन्द के अनुसार वस्तु न मिलने पर, स्वयं तंग होता है और दुकानदारों को भी हैरान करता है इस प्रकार कितना समय और कितनी शक्ति नष्ट होती है—इसका ख्याल नहीं

करता। इन सब विषयों में भी नियम रहना चाहिए। "इस प्रकार का कुर्त्ता ही व्यवहार करूँगा, इस प्रकार का जूता ही खरीदूँगा' इस प्रकार का कपड़ा ही पहनूँगा"—ऐसा एक साधारण नियम रहने से बहुत सुविधा होती है और चंचलता भी बहुत कम हो जाती है। परन्तु इस प्रकार का कुर्त्ता ही खरीदूँगा—यह निश्चय कर लेने के पश्चात, वैसा न मिलने पर दूसरा नहीं खरीदूँगा—ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए। सब नियम उन्नति के लिये ही हैं, अवनति के लिये नहीं। उद्देश्य को स्मरण रखकर आवश्यकतानुसार नियम में कभी परिवर्तन भी करना होगा। परन्तु सावधान रहना, कहीं वासनावश नियम का उल्लंघन न करना पड़े। जब जीवनमें न्याय और नियम का राज्य संस्थापित होगा तब जीवन संयत, पवित्र और शक्तिमान होगा, वैराग्य दृढ़ होगा और भक्ति बढ़ेगी—ऐसा अनुभव करोगे।

उपर्युक्त नियम के अनुसार तो चलना ही होगा, इसके अतिरिक्त समय-समय पर साधु-संग करने की चेष्टा करनी होगी। योग्य उपाय से साधु-संग के द्वारा जितनी सफलता की प्राप्ति होती है, वैसी और किसी भी उपाय से नहीं होती। जब साधु-संग नहीं मिले तब तो अवश्य ही शतशास्त्र और महापुरुषों की जीवनियों का आश्रय लेना होगा।

स्वास्थ्य की ओर सर्वदा ध्यान रखना। शरीर द्वारा ही भगवान को प्राप्त करना होगा। परन्तु सावधान रहना—मन भोग की ओर न चला जाय।

शिवमस्तु।

३७

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने पूर्व पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा की होगी, किन्तु उस पत्र में तुमने क्या-क्या लिखा था, वह मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं है। ऐसा स्मरण होता है कि तुमने अपनी मानसिक चञ्चलता की निवृत्ति के लिये उपाय पूछा था। चित्तरूपी व्याधि तो संसार को ग्रास किये बैठी है। जन्म से ही मनुष्य दुःसाध्य व्याधि के कराल गाल में पड़ा हुआ है। क्या इस रोग का कोई प्रतीकार नहीं है? अवश्य है। आयुर्वेद शास्त्र में बहुत सी औषधियों की व्यवस्था है किन्तु उनसे प्रायः कुछ भी उपकार नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस रोग से पीड़ित व्यक्ति प्रतीकार की अपेक्षा बीमारी के भोग को ही अधिक पसन्द करते हैं। वे बीमारी की यन्त्रणा को सहन करने की अपेक्षा सामयिक औषधिसेवन को ही अधिक क्लेशजनक समझते हैं इसलिये साधारण रोगी औषधि सेवन करने में बहुत ही दुःख मानते हैं। इसी से इस रोग की निवृत्ति प्राय : नहीं दीख पड़ती। यदि इस रोग के प्रतीकार करने की तुम्हें व्याकुलता उत्पन्न हुई है तो नीचे लिखी व्यवस्था के अनुसार रहकर देख सकते हो:—

व्यवस्था यह है :—केवल एक ही औषधि का सेवन करना चाहिये, उसका नाम 'उपासना है। उसका अनुपान

है 'श्रद्धा' इस रोग में विषय-भोग ही कुपथ्य या निषिद्ध आहार है, उसे छोड़ना चाहिये। अब इस व्यवस्था के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से कहता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो एवं विचारपूर्वक कार्य करो—आजकल उक्त अनुपान बहुत दुर्लभ हो गया है। यदि अनुपान मिल जाए तो इस औषधि से बहुत ही जल्दी रोग शान्त हो जाता है। किन्तु यदि वह न मिले तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं। बिना अनुपान के केवल औषधि को भी निगल जाने से भी काम हो जायगा। उससे रोगमुक्ति में बाधा नहीं होगी, केवल कुछ विलम्ब होगा—इतना ही भेद है। फिर औषधि सेवन करते हुए किसी-न-किसी दिन अनुपान भी अवश्य मिलेगा, फिर कोई चिन्ता का कारण नहीं रहेगा। इसीलिये कहता हूँ यदि श्रद्धा न भी हो तो भी उपासना को मत छोड़ना। यह उपासना दवाई भी है और पथ्य भी। इसे जितना अधिक सेवन करोगे उतना ही लाभ होगा। रात-दिन सर्वदा खाते रहने पर भी हानि नहीं होगी। जितना अधिक समय इस औषधि का सेवन करोगे। उतनी ही जल्दी रोगमुक्ति की सम्भावना है। यह दवा यदि रसगुल्ले के समान मीठी होती, तब तो कोई बात ही नहीं थी किन्तु पहले-पहले यह थोड़ी-सी कड़वी मालूम होती है। इसलिये बहुत लोग इस दवाई का सेवन नहीं करना चाहते। यदि अनुपान मिल जाए तो औषधि-सेवन में कष्ट नहीं जान पड़ता और यदि वह न मिले तो भी कष्ट उठाकर कुछ दिन सेवन करते ही रहो। अभ्यास हो जाने पर फिर वह स्वाद में भी बुरी नहीं लगेगी। आगे चलकर जब वह रसगुल्ले से भी अधिक मीठी लगने लगेगी तब तो अपने आप आग्रहपूर्वक सेवन करने लगोगे। इस औषधि को अनेक प्रकार से सेवन कर सकते हो। यह औषधि सभी अवस्थाओं में सेव्य

है। इस विषयमें विचार की आवश्यकता नहीं। कर्म में, चिन्तन में, वाक्य में तथा संगीत में सभी प्रकार से इस औषधि का सेवन कर सकते हो। सोते-बैठते खड़े-खड़े चलते-फिरते किसी भी अवस्था में बाधा नहीं पड़ती। यदि किसी समय इस औषधि का सेवन न कर सको तो उस समय पवित्रता का सेवन करो। दर्शन में, श्रवणमें, स्मरणमें, मननमें, कर्म में, भावमें केवल पवित्रता का ही का सेवन करना। चिकित्सिक लोग साधारणतया रोगियों को उपवास करने का परामर्श देते हैं किन्तु इस रोग में उपवास की आवश्यकता नहीं है, सर्वदा ही खाते रहने की विधि है। जब-जब इस पवित्रतम औषधि के सेवन की अनिच्छा हो तब-तब किसी न किसी प्रकार की पवित्रता का आहार करना चाहिये। कुछ दिन इस प्रकार चलने पर अन्त में सर्वदा ही औषधि सेवन में समर्थ हो जाओगे।

यह तो हुई औषधि की व्यवस्था। किन्तु, केवल औषधि से ही रोगमुक्ति नहीं होती। कुपथ्य का त्याग भी करना चाहिये। औषधि की और साथ ही कुपथ्य भी किया, इससे रोग शान्त नहीं होता बल्कि औषधि न लेकर यदि कुपथ्य से ही बचते रहो तो रोग शान्त हो सकता है। कुपथ्य न छोड़ने पर तो औषधि का सेवन करते रहने पर भी इस व्याधि से छुटकारा मिलना कठिन है। अतः यदि अविलम्ब स्वास्थ्य लाभ करना चाहें तो औषधि सेवन के साथ-साथ कुपथ्य वर्जन करना होगा। याद रखो, जिस परिमाण से कुपथ्य का सेवन करोगे, उसी परिमाण से ही रोग की यन्त्रणा सहन करनी होगी।

महामायावी विश्वनाथ ने एक बहुत बड़ा सुवर्णमय जाल फैला रखा है। हमसब उस जालकी सुनहरी ज्योतिसे आकृष्ट होकर उसके भीतर स्वेच्छा से विचरण कर रहे हैं और

अत्यन्त विवश होकर उस मायावी के हाथ में अपने को पकड़वा देते हैं। इस जाल में मणि-मुक्ता से जटित अगणित बड़िश (काँटे) लटक रहे हैं। कोई बड़िश मिठाई के रूप में है, कोई सुन्दर मुख की कान्ति है, कोई कीर्त्ति है, कोई अभिमान है, कोई धन है, कोई जन है, कोई विद्या है, कोई बुद्धि है, कोई स्त्री है, कोई पुत्र है, कोई वित्त है, कोई ऐश्वर्य है, और कोई स्वार्थ है। इस प्रकार विभिन्न आकारों के तथा विभिन्न प्रकार के बड़िश के प्रति हम लोग समय-समय पर आकृष्ट होते हैं। फिर हँसते हुए स्वेच्छा से ही एक-एक बड़िश के द्वारा ओंठों को बींध लेते हैं और रोते हुए बिद्ध होकर लटके रहते हैं। कभी तो एक —को छोड़कर दूसरे के समीप पहुँचने के लिये जलती हुई रेती से भरे मार्गपर चलने का असह्य कष्ट भोगते हैं यद्यपि इस जाल के बाहर पूरे आकाशमें विस्तृत बगीचा है और वहाँ जाने के लिये हमारे पास ही इच्छारूप द्वार भी हैं, परन्तु हमें जाल के अन्दर घूमने की ही वासना हैं। बाहर जाने की बात तो हमें याद भी नहीं आती जबतक इस विषय-जाल में घूमते रहोगे, तबतक चित्त रूपी रोग शान्त नहीं होगा। बिना वैराग्य एवं उपासना के चञ्चलता की निवृत्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है। इस बात को निश्चित धारणा करो और मन को स्थिरता प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक उपासना एवं विषय-वैराग्य का अभ्यास करो।

वैराग्य की प्राप्ति के लिये न्यायनिष्ठा की आवश्यकता है। जिसे अच्छा समझो उसे ही करो, जिसे बुरा समझो, उसे कदापि मत करो। जहाँ संशय हो, वहाँ पर योग्य व्यक्ति के साथ परामर्श करो एवं विचार से भ्रान्ति मिटाने के लिये अध्ययन आदि करते रहो। सदैव विचार—बुद्धि का

आश्रय लो एवं विचारपूर्वक कर्त्तव्य का निर्णय करो। फिर यह सब करते रहना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसे यथासम्भव सुचारू रूप से करने का प्रयत्न करो। तुम्हारे सारे कर्म न्याययुक्त होने चाहिए। इसलिये संयम की आवश्कता है। विचार, प्रार्थना तथा प्रतिज्ञा के बल से संयम प्राप्त करना होगा। यदि संयम प्राप्त कर लिया जाए तो उपासना, पठन-पाठन और दूसरे कर्त्तव्यों को विधिपूर्वक सुसम्पन्न करना कठिन नहीं होगा। कर्म सम्पादन के लिये एक कौशल का स्मरण रखना जरूरी है। इस कौशल की सहायता न लेने पर कर्त्तव्य करने में त्रुटि होगी। यह कौशल है—नियम-निष्ठा। विचार करने पर समझ सकोगे कि सर्वत्र ही नियम का राज्य प्रतिष्ठित है। स्थूल दृष्टि से जो नियम का व्यभिचार अर्थात् अभाव जान पड़ता है, वस्तुतः वह भी व्यभिचार नहीं अपितु किसी बड़े नियम के ही अन्तर्भूत है। जगत् में यह नियम-शृंखला होने के कारण ही हम उसपर निर्भर करके अनायास कर्म जगत् में विचरण कर सकते हैं। हमारे प्रतिदिन के कार्यों में यदि नियम की शृंखला बनी रहे तो हमें भी सुविधा होगी और सारे जगत् को भी। यदि हम नियम-निष्ठ नहीं बनेंगे तो अपने कर्त्तव्य कर्मों को भी ठीक-ठीक सम्पन्न नहीं कर सकेंगे। नियम-निष्ठा में प्रमाद करने पर तो हम दूसरों को भी असुविधा ही में डालेंगे और समाज-चक्र की गति-विधि में बाधा उत्पन्न करेंगे। अतः कदापि नियमनिष्ठा का परित्याग न करना। यदि नियमनिष्ठ होकर कर्त्तव्य कर्मों को योग्य रीति से सम्पन्न कर सको, तो चित्त निर्मल होगा; निर्मल चित्त में ज्ञान प्रकाशित होगा; और वह ज्ञान उपासना से युक्त होकर तुम्हें वैराग्यरूपी रत्न द्वारा विभूषित करेगा।

श्रीकाशीधाम शिवमस्तु। इति।

३८

ॐ

नारायणेषु !

क्या मनुष्य बिना प्रयत्न किये अनायास आगे बढ़ सकता है ? अथवा अनायास निर्भरशील हो सकता है ? उनका (परमेश्वर का) नाम उच्चारण करते हुए—बालक की भाँति केवल माँ ! माँ ! पुकारते हुए—माँ की कृपा होती है। माँ की कृपा होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती हैं, निर्भरता आती है, प्रेम प्राप्त होता है। माँ की कृपा होने पर ही सब कुछ मिलेगा, बिना उनकी कृपा के कुछ भी नहीं मिलेगा। उनका नाम लेना ही उनकी कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

यहाँ पर एक साधु हैं, जो केवल नाप-जप करते रहते हैं। वह बारह-चौदह वर्षों से नाम-जप ही करते हैं। पहिले पाँच-सात वर्षों तक उन्हें कुछ भी फल नहीं मिला और न कुछ मधुरता का ही अनुभव हुआ, बल्कि बहुत बार अनिच्छा (ऊबन) भी हो जाती थी परन्तु वह साधन में लगे रहे। पाँच-सात वर्ष बाद मन द्रवित होने लगा, प्रेम-प्रवाह बहने लगा—आनन्द-स्रोत बह चला। अब वह आनन्द में मग्न रहते हैं और सबको नाम-जप करने का उपदेश देते रहते हैं। इसलिए मन चाहे एकाग्र हो या न हो, नाम जप करते रहो। केवल नाम का ही भरोसा है यदि नाम जप नहीं करोगे तो और करोगे क्या ?

तुम्हारे लिये अन्य क्या उपाय है ? सब कुछ देने वाली—करने वाली एकमात्र 'माँ' ही है उनकी कृपा के सिवाय उन्हें प्राप्त करने का अन्य उपाय नहीं है और कृपा प्राप्त करने का मार्ग है—नाम।

यदि दो-चार दिन या दो-चार मास में 'उन्हें' प्राप्त करना चाहो तो कार्य सिद्ध नहीं होगा। सहनशील होकर कार्य में लगे रहना पड़ेगा। मृत्युपर्यन्त साधन करने के लिए तत्पर रहना पड़ेगा। जब उनकी प्रसन्नता होगी, तब कृपा होगी। कृपा करना उनकी इच्छा पर निर्भर है। वह किसी नियम के अधीन नहीं हैं। यदि उनकी इच्छा हो तो तुम इसी क्षण उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हो और उनकी इच्छा न हो तो बहुत विलम्ब भी हो सकता है। इसलिए धैर्य खोने से काम नहीं बनेगा। नियमनिष्ठ होने की चेष्टा करो, प्राणायाम नियमपूर्वक न करने से फल प्राप्ति नहीं होती।

अब शास्त्र पर विश्वास के विषय में लिखता हूँ। किसी भी शास्त्र पर अन्धविश्वास करने के लिए नहीं कहता। ऐसा करना ठीक भी नहीं है। जिस रीति से रसायन-शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र पढ़ते हैं, उसी रीति से शास्त्र पढ़ने को कहता हूँ। जैसे परीक्षण के द्वारा रसायनशास्त्र में विश्वास होता है, वैसे ही उपलब्धि आदि के द्वारा शास्त्र को समझना होगा, शास्त्र की सत्यता को पूर्णतया हृदयंगम करना होगा, नहीं तो दूसरे की बात पर केवल विश्वास करने से क्या लाभ है। स्वयं उपलब्धि करना और प्राणपन से हृदयंगम करना साधना पर निर्भर हैं। शास्त्र में जैसी साधन की व्यवस्था है उसके अनुसार साधन करने पर भी यदि शास्त्रोक्त फल की

प्राप्ति न हो तो आप शास्त्र पर अविश्वास कर सकते हैं। इससे पहिले आपको शास्त्र पर अविश्वास करने का अधिकार नहीं है।

यदि प्रतिदिन ठीक समय नींद न खुले तो एक घण्टी घड़ी (Alarming time piece) रखने से सम्भवत: सुविधा रहेगी।

ध्यान के लिये एक पृथक् आसन रखना ही अच्छा है। आसन ऊन का, चर्म का या कुश का होना चाहिये। ध्यान में मूर्ति के विभिन्न अंशों का परिमाण ठीक न हो तो भी उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। आप से जैसा हो सके ध्यान का अभ्यास करते रहिये। भविष्य में स्वत: ही वह ठीक हो जायेगा। यदि ध्यान बराबर न हो, और मूर्ति भी स्पष्ट न दीखे, तो एक-एक दिन एक-एक अंग पर अधिक समय तक चिन्तन करें, इसके पश्चात् कुछ समय सम्पूर्ण शरीर को देखने की चेष्टा करें। सम्भव हो तो मानसिक पूजा करें।

और भी एक काम कर सकते हैं। श्री श्रीकाली बाड़ी की या और किसी देवस्थान की भगवन्-मूर्ति के सामने बैठकर उसे बहुत देर तक देखते रहें। पीछे आँखें मूंदकर कल्पना नेत्र से उसे देखने की चेष्टा करें। जब भी कल्पना की मूर्ति अस्पष्ट होने लगे तो फिर आँखें खोलकर मूर्ति को देख लें। लगातार कई दिन बार-बार ऐसा करते रहने से, सम्भव है, अन्तर (हृदय) में मूर्ति को देखने की सुविधा हो जाये। कभी-कभी आँखों के सामने मूर्ति की कल्पना करते रहें।

जब साधन के लिये बैठें, तब जो मूर्ति या रूप मन में जागृत हो, उसे ही अपने इष्ट-देवी की मूर्ति या रूप

समझें। ऐसा—सोचें, कि 'महाशक्ति विश्वजननी इसी रूप में मुझे दर्शन देने के लिये आई है।' किसी शब्द के याद आने पर अथवा पुनः-पुनः कानों से सुनते समय ऐसा सोचें कि इससे भी माता का नाम हो रहा है। इस प्रकार, प्रत्येक घटना ही महाशक्ति का प्रकाश है—ऐसी दृष्टि रखने की चेष्टा करें। अन्त में, साधना से इस प्रकार की उपलब्धि होती है कि विश्व के सब रूप उनके ही रूप हैं, सब शब्द उनके ही नाम हैं, सब कर्म उनकी ही आनन्द-लीला है। अथवा मन जिस ओर जाये, उसे बिना रुकावट उस ओर जाने देने से भी कुछ समय पश्चात् वह स्वयं लौट आता है और अन्त में शान्त हो जाता है। जब जैसा भी विक्षेप आवे, विचार द्वारा उसकी असारता निश्चय करने से कुछ दिन पीछे उस प्रकार का विक्षेप फिर नहीं आवेगा।

आज इतना ही। भगवान् आप सब का कल्याण करें।

इति।

स्वर्गाश्रम
१२-३-१९१४ ई०

३९

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला ! तुम्हारे प्रत्येक पत्र की अनेकों पंक्तियों में कवि कल्पना का परिचय मिलता है। मैं उस कवित्व के सौन्दर्य सुषमा की बात नहीं कहता, जो साधारण जनता द्वारा न देखी-सुनी गई हो; अपितु उसकी बात कहता हूं जो नाना प्रकार की वस्तुओंसे निर्मित कृत्रिम पदार्थों की न्याईं हृदय को मुग्ध करने वाली, क्षणिक वेषधारी नटराजके अभिनय की भाँति मिथ्या के सम्मिश्रण से अपने और पराए मन को मोहित करने के लिये एक कल्पना कुशल कृत्रिम भाषा की सृष्टि करता है। हृदय को मत्त करने वाले चुम्बक पत्थर की न्याईं जगत् में इस प्रकार के कवित्व का भी अवश्य स्थान है किन्तु धर्म-जगत् में प्रवेश करने का उसका अधिकार नहीं है। अध्यात्म राज्य में सुदृढ़ भित्ति पर ही सत्य की महिमान्वित पताका चिरकाल तक विराजमान है। वेद और पुराणों में तथा इतिहास और नीति शास्त्रों में सत्य का अप्रतिद्वन्द्वी माहात्म्य समभाव से कीर्तित हुआ है। सत्य के बल से ही स्वर्ग राज्य का तोरण द्वार उन्मुक्त होता है। सत्य के अभ्यास से हृदय निर्मल हो जाता है। सत्य के आलोक से बुद्धि तीक्ष्ण और विचार-परायण होती है एवं सत्य निष्ठा के प्रभाव से सत्य स्वरूप भगवान की कृपा प्राप्त की जाती है।

इसलिये कहता हूं—चञ्चलतामय भावप्रवण हृदय को संयत और विचारशील बनाओ एवं सदा सत्य परायण होकर अन्तःकरण को सत्यमय बनाओ। तुम्हारे वाक्य, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे चिन्तन सदा सत्य का ही आश्रय लें। जो बात बोलो और जो भाषा लिखो उसमें यह ख्याल रखो कि वह तुम्हारे मनोभाव को पूर्णतया प्रकाशित करें। ध्यान रखो कि तुम जब जो कर्म करो वह तुम्हारे अंगीकृत वाक्य का अनुगमन करे। तुम्हारी मति और बुद्धि सत्य स्वरूप को ध्रुवतारा मानकर सभी कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने में लगी रहे। तुम्हें पूर्ण पुरुषार्थ के साथ सदा सत्य का ही आश्रय लेकर रहना होगा। कभी भी मिथ्या का आश्रय स्वीकार न करना। हँसी ठिठोली में भी मिथ्या की पुष्टि न करना। परिणाम चाहे कुछ भी हो मिथ्या का सदा ही त्याग करना होगा। जल की बूंद जल ही है। क्षुद्र मिथ्या भी मिथ्या के अतिरिक्त कुछ नहीं है अतः अत्यन्त अल्प मिथ्या की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सत्य परायण होने के लिये अवश्य ही स्वार्थ का बलिदान करना होगा। साधारणतया लोग स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही मिथ्या भाषण करते हैं। सत्य की रक्षा करनी है तो सर्वदा आत्म-त्याग करना आवश्यक है। परन्तु इस पुण्य भूमि की भाग्यवान सन्तान से क्या आत्मत्याग की आशा रखनी दुराशामात्र है? इसी देश में आकर बादशाह बाबर ने नारियल के वृक्ष को देख कर कहा था—"हिन्दुस्तान पर खुदा की कितनी मेहरबानी है। इतने ऊँचे स्थान पर भी कितना मजबूत बक्स है और प्रत्येक बक्स के अन्दर दो रोटी एक गिलास पानी है, जो भूख-प्यास से व्याकुल प्राणियों के लिये सावधानी से रखी हुई है।"

इसमें सन्देह नहीं कि भोग्य वस्तुओं के द्वारा भारत का भण्डार परिपूर्ण करके विधाता ने जिस करुणा का परिचय दिया है, उससे भी कहीं अधिक करुणा भारत में त्याग की महिमा सुप्रतिष्ठित करके प्रगटकी है। शास्त्र और महापुरुष एक स्वर से कहते हैं—त्याग ही अमृतत्त्व प्राप्ति के लिये एक-मात्र उपाय है। भारतवर्ष ही विधाता की कृपा से उस उपाय के द्वारा अमृत का अधिकारी हुआ है। भारत के शास्त्र त्याग की महिमा से परिपूर्ण हैं। भारत का हिमगिरि और भारत का गंगातट त्याग वैराग्य की विलास भूमि है। भारत के आकाश में त्याग की वार्ता प्रतिध्वनित हो रही है। भारत के कर्म, भारतके धर्म, भारतके आचार, भारत के समाज सभी त्यागकी सुमहान्-भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं। भारत में ही दधीचि का आविर्भाव हुआ था। भारतमें ही महादानी कर्ण ने जन्म लिया था। भारत में ही राजा शिवि का अभ्युदय हुआ था। भारत के ही बुद्धदेव राज्यैश्वर्य छोड़कर जगत् के कल्याण के लिये वनवासी हुए थे। भारत के तुलसीदास तथा पयहारी बाबा ने चोर के हाथ में समर्पण किया था। भारतके मानव भोगसुख को काकविष्ठा की की भाँति दूर फेंक कर सत्य के अन्वेशण में सर्वदा संलग्न ही रहेंगे। यह त्याग का ही देश है। यह कर्मभूमि है। सर्वस्व दक्षिणा देकर विश्वजित् यज्ञ के अनुष्ठान के लिये ही, भोग-विलास के लिये नहीं।

इसलिये कहता हूँ कि जब इस देश की सन्तान होने का अधिकार प्राप्त किया है, तब फिर आत्म-त्याग में तुम्हारी प्रीति क्यों न होगी। क्यों सत्य-परायण नहीं हो सकोगे अतः फिर भी कहता हूँ कि प्राणप्रण करके सत्य-परायण हो

जाओ। तुम्हारा वाक्य सत्यमय हो, कार्य सत्यमय हो, चिन्तन सत्यमय हो, तथा समस्त जीवन सत्यमय बनकर मधुमय हो जाए, सत्य स्वरूप को प्राप्त करके मधुमय हो जाए।

श्रीकाशी धाम।
१-६-१९१८

४०

ॐ

नारायणेषु,

तुम्हारा पत्र ठीक समय पर मिला। संसार-समुद्र में डूबे हुए मानव के लिये श्रद्धा ही श्रेष्ठतम अवलम्बन है। जब तक श्रद्धा की यत्न के साथ रक्षा कर सकोगे, तबतक ही सिद्धि लाभ की ओर लक्ष्य तक पहुँचने की पूर्ण सम्भावना रहेगी। जिस दिन श्रद्धा को छोड़ दोगे, वह दिन तुम्हारे लिये सबसे अधिक दुर्दिन होगा, अतः सर्व-प्रयत्न से श्रद्धा की रक्षा करनी चाहिये। श्रद्धा चार प्रकार की हैं:—(१)अपने पर श्रद्धा, (२) गुरु पर श्रद्धा, (३) शास्त्र और गुरुदत्त साधन पर श्रद्धा एवं (४)भगवान पर श्रद्धा। इन चारों प्रकार की श्रद्धा की पूर्णतया रक्षा करने से तुम जीवन पथ में आने वाले सभी विघ्नों को हटा सकोगे।

तुम्हारी अपेक्षा अधिक क्लेश में पड़कर भी कितने ही लोग धैर्य तथा अध्यवसाय के बल से उन्नति प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। फिर तुम क्यों नहीं समर्थ होंगे? विघ्नों को देखकर क्यों निराश होते हो? यदि विघ्न न हों, तो फिर जीवन संग्राम ही क्या ? विघ्नों के साथ संग्राम किये बिना उन्नति भी कैसी ? दुःख आवेगा—दुःख बढ़ेगा—दुःख निवृति के लिये इच्छा और चेष्टा उत्पन्न होंगी, तभी तो दुःख निवृति करने में और उन्नततर अवस्था प्राप्त करने में समर्थ होंगे। दुःख आवें तो आने दो, उसकी तीव्रता के अनुसार, तुम्हारे उत्साह और उद्यम भी बढ़ते जावें। तभी तो तुम मनुष्य हो, तभी तो तुम साधक हो। जो कभी कष्ट में नहीं पड़ा, उसकी क्या शूरता है ? उसके मनुष्यत्त्व का विकास होने की सम्भावना कहाँ है ? बहुत पुण्यों से तुमने सद्गुरु की कृपा प्राप्त की है। यदि तुम बिल्कुल ही तुच्छ होते तो उस अपार्थिव करुणा के अधिकारी कैसे होते ? दीक्षाके समयसे गुरु ही शरीर और मनका सम्पूर्ण भार स्वीकार कर लेते हैं फिर उन्हें क्या भय ? उनकी शक्ति पर संशय मत करो। यदि उनकी शक्ति में विश्वास हो तो संशय कैसा ?

तुमने जिस साधन को प्राप्त किया है, वही तुम्हारे सब अभाव और सारी अशान्ति दूर करने में समर्थ है। जैसे अग्नि का स्फुलिंग पवन-आदिक की सहायता से बढ़कर ग्राम एवं नगर आदिकों को भी भस्म कर देता है, वैसे ही तुम्हारी साधना भी यथा नियम श्रद्धा के साथ अनुष्ठित होने पर तुम्हारी समस्त असुविधाओं के साथ संसार-बंन्धन को चिरकाल के लिये भस्मीभूत कर देगा। इसलिये चाहे किसी भी स्थिति में रहो, यथासम्भव शान्त मन से साधन में लगे रहो। गुरु के प्रति जिसकी श्रद्धा है, उसकी साधन में निष्ठा क्यों

नहीं होगी और जिसकी साधन में निष्ठा है, उसको संशय क्यों होगा ?

वेद अपौरुषेय है। मोहान्ध मानव के लिये शास्त्र ही नेत्रस्वरूप है। इसलिये गुरुदेव के द्वारा निर्दिष्ट शास्त्र का अध्ययन करते हुए उसे जीवन में अनुभव के लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सबसे बढ़कर तो श्री भगवान में निर्भरता का अभ्यास करना चाहिये। श्रीभगवान ने गीता में कहा है—

'तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत !'

गान में भी सुना है—'जब जिस स्थिति में तुम मुझे रखोगे, वही मेरे लिये मंगलरूप होगी। अतः ऐसा करो जिससे मैं तुम्हें न भूलूं।' फिर क्यों विषाद करते हो ? गीता में पढ़ा है—"गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्" तब क्यों उन पर निर्भर नहीं कर सकोगे ? उनके वचन पर विश्वास रखो। याद रखो—उनका मंगलहस्त सदा ही तुम्हारे सिर पर है। सच मानो वे सदा ही तुम्हें मंगल के मार्ग पर परिचालित कर रहे हैं। तुम जिसको दुर्भाग्य मान रहे हो, जब साधना में उन्नति होगी, तब समझोगे कि वह भी वास्तव में तुम्हारे कल्याण का कारण था। इसलिये सब अवस्थाओं में सन्तुष्ट रहकर सब कर्मों में उनकी मंगलमयी लीला को देखने की चेष्टा करो "कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" भगवान की यह प्रतिज्ञा तुम्हारे हृदय में आशा तथा उत्साह का संचार करे।

दूसरों के संग से क्या लाभ ? भगवान का ही संग करो। उन्होंने जिस एकान्त साधन का सुयोग दिया है,

उसका सदुपयोग करो। जब कभी कुछ दुर्बलता या असुविधा महसूस करो तो उनसे ही उसे निवेदन करो। वे ही सब विघ्नों को हटा देंगे और जो आवश्यक होगा, वे ही ठीक समयपर प्रदान करेंगे। माता की गोद में हो, क्या चिन्ता है ?

श्रीकाशी धाम
२५-९-१९१८

४१

ॐ

नारायणेषु,

मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि आज मैं आपको क्या नवीन बातें लिखूं। आपकी बुद्धि भी कम नहीं है (बल्कि यह अधिक बुद्धि ही कभी-कभी कुछ कठिनता पैदा कर देती है) और न सांसारिक अभिज्ञता में ही आपको कमी है (इस अभिज्ञता से भी कभी-कभी मन विभ्रान्त हो जाता है)। परन्तु यह सत्य सिद्धान्त है कि जो बुद्धि आसक्ति की क्रीतदासी है वह प्रायः विपरीत सिद्धान्त निश्चित करना चाहती है, और अपने उस सिद्धान्त के विपरीत कुछ भी स्वीकार नहीं कर

सकती। यद्यपि कभी-कभी बुद्धि यथार्थ निश्चय कर भी लेती है, तो भी पूर्व के अभ्यास, सस्कार और दुर्बलताओं के कारण उस निश्चय के अनुसार कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकती, प्रत्युत तृष्णा की प्रबलता के कारण हानिकर समझते हुए भी और चिकित्सक द्वारा निषेध किये जाने पर भी मानों पानी पीने को व्याकुल हो जाती है फिर जैसे-तैसे यदि पानी पीना बन्द भी रक्खें तो भी वह धैर्य अधिक समय तक नहीं ठहर पाता। तो फिर इसका उपाय क्या? उपाय है—शास्त्र, विचार तथा सत्संग की सहायता से वैराग्य को बढ़ाना और आहार-विहार में, वेष-भूषा में तथा कर्म और चिन्तन में सत्वगुण को बढ़ाना तथा दूसरे दो गुणों का (रजो तथा तमोगुण का) संयम करना। इसमें तथा साधन सम्बन्धी अन्य सभी विषयों में धैर्य ही प्रधान अवलम्बन है। धैर्य और अध्यवसाय जिसमे नहीं है, उसके लिए सफलता प्राप्त करने की आशा दुराशामात्र है।

सतोगुण की वृद्धि के लिए किस प्रकार कर्म करना चाहिये—यह आप स्वयं ही निश्चय कर लें। यदि मैं कहूँ कि शास्त्रानुसार तीर्थभ्रमण सामर्थ्य के अनुसार (शरीर, वाक्, मन और अर्थ के द्वारा) जीव सेवा, प्रतिदिन नियमानुसार वेदाध्ययन, सत्यरक्षा और तपस्या, तो सम्भवतः आपसे यह सब हो नहीं सकेगा। अतः दूसरे से सलाह लेने पर भी इससे अधिक फल प्राप्ति नहीं होगी। पूज्यपाद श्री युत.....से तो बहुत कुछ सुना होगा। फिर और अधिक सुनने से क्या लाभ? जब इतने लम्बे जीवनकाल को मनमाने ढंग से आपने व्यतीत किया, उससे कौन से हाथी घोड़ा बन गए। अतः अब जो थोड़े से दिन शेष हैं उनको तनिक कष्ट से ही बिता कर देखें। थोड़ा

तो कमर कसकर, थोड़ा कुछ संयम के अधीन होकर कुछ समय व्यतीत करने का अभ्यास करें। यह समय आपको किस प्रकार व्यतीत करना होगा, यह तो आप स्वयं ही सब विषयों पर विचार करके ठीक करलें, फिर दूसरी ओर दृष्टि न डालकर, अन्य किसी प्रकार का सोच-विचार न करते हुए, एकाग्रमन से, शान्तचित्त से धैर्यपूर्वक, साहस-श्रद्धा और अध्यवसाय के के साथ उस नियम का अनुसरण करें। आज किसी कारणवश एक नियम को तोड़ा, और कल दूसरे कारणवश अन्य किसी नियम को भंग किया तथा किसी को खुश करने के लिये परसों कोई विपरीत आचरण कर डाला—ऐसा करना उचित नहीं है। आपका हित नियमानुसार चलने में ही है। नियमविरुद्ध चलने में तो आपका अहित ही है—यह निश्चय जानना। यदि इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत कर सके तो अपनी उन्नति अनुभव करने में आपको कठिनता नहीं होगी नहीं तो सारी जिन्दगी माला सरकाई परन्तु रहे ज्यों के त्यों अन्धेरे में ही, ऐसा जीवन तो जीवन नहीं है। अब भी जो समय बाकी है उसका सदुपयोग करने से भी बहुत-कुछ हो सकता है।

प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक समय और प्रत्येक सुयोग का उपयोग कीजिये। संकीर्तन सुनने के लिये बैठें तो भगवान के नाम और महिमामें ही तल्लीन हो जाइये, तान और लय की शुद्धि-अशुद्धि पर विचार करने की आयश्कता नहीं। गीता का पाठ करते समय उसके उपदेश को ही अपनावे। गीता-रचयिता के कवित्त की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यदि शक्ति, सुयोग और समय का सदुपयोग कर सकें तो थोड़े समय पश्चात् ही आपको अपने जीवन को उन्नति का ज्ञान होगा। जो शक्ति और सुयोग मिले हैं, उनका सदुपयोग न

किया गया तो भला भगवान क्यों अधिक शक्ति और सुयोग देंगे। इसमें दूसरे के मुँह की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं और दूसरे के साथ परामर्श करने की भी आवश्यकता नहीं है। जन्म भी अकेले का हुआ, मृत्यु भी अकेले की होगी और धर्म की प्राप्ति भी अकेले ही करनी होगी। केवल संसार ही में संग-बन्धन में ही संग और केवल संग में ही बन्धन है। विचार कर देखें कि जब तुम कोई व्यर्थ कार्य कर रहे हों, कोई व्यर्थ बातें बोल रहे हों और व्यर्थ चिन्तन कर रहे हों, ठीक उसी समय अकस्मात् तुम्हारी मृत्यु हो जाए तो क्या होगा? सभी कर्मों से साधन श्रेष्ठ है—ऐसा निश्चय करना होगा। चाहे किसी प्रकार से हो, इसे ही पहले समाप्त करना होगा, नहीं तो अन्त में यदि समय न मिले तो क्या होगा?

अतः प्राणप्रण से साधन करना होगा। समय नष्ट नहीं करना। थोड़ा-सा भी समय नष्ट होने पर उसके लिये पुत्रशोक से भी अधिक दुःख होना चाहिये। साधन में अनेक विघ्न आयेंगे सही, परन्तु विघ्न की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। जितना सम्भव हो मन तथा समय को साधन में लगाइये। शेष मन और समय को इस प्रकार परिचालित कीजिये तथा ऐसे कार्य में लगाइये, जिससे आगामी सम्पूर्ण समय और मन को भगवान में लगा सकें।

यदि इसी विधि से कार्य करते रहेंगे तो जो भगवान विघ्नोत्पत्ति क्रिया के कर्त्ता हैं, वे ही विघ्नों को नष्ट भी कर देंगे। आपको चिन्ता नहीं करनी होगी। किसी कारण-वश दूसरा कोई साधन न कर सकें तो भी नाम-जप कभी असम्भव नहीं होता। बैठकर, खड़े हुए, चलते-चलते, हर

हाल में नापजप करना सम्भव है। आहार-विहार मल-मूत्र त्यागते समय भी नामजप किया जा सकता है। चाहे कुछ भी विघ्न हो, नाम की शक्ति से वे सबके सब सयय पर नष्ट हो जायेंगे। नाम से भक्ति, ज्ञान, दर्शन सभी मिल सकते हैं। आसन, मुद्रा, योग और प्राणायाम—इन सबका कार्य भी नाम से हो जाता है। यह साधन सभी के लिये सुगम है केवल कुछ इच्छा चाहिये और भगवत्कृपा के लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये।

स्वर्गाश्रम
आश्विन, १३२३ बंगाब्द
(शुक्ला) पूर्णिमा।

४२

ॐ

मेरे प्रिय !

तुम कभी भी अकेले नहीं हो, तुम्हारी सहायता सदा होती रहती है। 'माँ' की रक्षा कवच तुम्हारे चारों ओर हैं, तुम्हारा न तो कोई कुछ बिगाड़ सकता हैं, और न तुम्हारी ही उन्नति पथ में कोई बाधक है। अपने मन से सभी संशय, आशंकायें, भय, आतंक, कायरता, क्षुब्धतायें जड़से उखाड़ फेंको। निर्मल बनाने वाली विवशता, निराश करने वाली असावधानी,

कायर बानने वाला प्रमाद तुम में न हों। दृढ़ संकल्प, निश्शंक, अविचलित होकर अपने परमकार्य में रत रहो। और—और आगे बढ़ते हुए अपने लक्ष्य की ओर सतत् अग्रसर रहो। तुम अजर, अमर हो, लक्ष्य तुम्हारी प्राप्ति के लिये है, तुम इसे अभी और यहीं से प्राप्त करो।

तुम्हारे लिये यम (काल) चिन्ता का विषय नहीं है। इसकी ओर तुम बिल्कुल न देखो, यह तुम्हारे लिए कोई विशेष तात्पर्य नहीं रखता। यह सत्य नहीं है, केवल तुम्हारे मन की उपज है और इसे तुमसे वही उदासीनता अपेक्षित है जिसका यह पात्र है. अब तुम अपने आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ तीव्रता एवं परम पवित्रता से बढ़ रहे हो। भ्रमित वृत्तियें एवं अन्य विघ्न बाधायें तुम्हारे पथ में प्रायः आ सकती हैं पर यह सब स्वभावतः आती-जाती रहेंगी, तुम्हें रंचमात्र भी ठेस पहुँचाए बिना। तुम केवल माँ से चिपटे ही रहो, बिना इधर-उधर देखे, सदा आगे बढ़ते चलो। जागतिक विषयों से वैराग्य और परिजनों और प्रशंसकों से उदासीनता एवं देवत्व में मन की अखण्ड लगन बस यह तीनों तुम्हारे समक्ष रहें। तुम्हें अपने पथ से कभी भी किसी कारण से भी डिगना नहीं। तुम्हे अपने कर्त्तव्य में आगे बढ़ते रहना है, चाहे कुछ भी हो। जीवन संग्राम में तुम्हें सर्वश्रेष्ठ योद्धा की भाँति भिड़ना है। है। मैं जानता हूँ, तुम इस कार्य में समर्थ हो और तुम इसे पूरी तरह निभा सकते हो। और मैं यह भी जातना हूं कि यदि तुम अपने पथपर लगे रहे तो तुम्हें साक्षात्कार होगा, अविलम्ब ही।

स्वर्गाश्रम
अगस्त ५–१९२०

४३

ॐ

निरापत्सु !

जैसे कोई-कोई योगी योगैश्वर्य के प्रभाव से जगत एवं मानव समाज पर शक्ति और प्रभुत्व का विस्तार करके भी अविद्या के सामने सिर झुका देता है वैसे ही भारत-साम्राज्य के अधीश्वर जहाँगीर कोटि-कोटि लोगों के एकमात्र शासक होते हुए भी, नूरजहाँ के पदतल में भयभीत होकर अपना राजमुकुट रख देते थे। उदार मति अकबर के पुत्र होते हुए भी हिन्दुओं के प्रति उनका विद्वेषभाव चरमसीमा तक पहुँच गया था। कुचक्री अब्बुल फजल के कुपरामर्श से ही निरीह अकबर काफिरों के धर्म पर विश्वास बनाये हुए हैं—इस धारणा से विचारहीन होकर उन्होंने अब्बुल फजल की गुप्त हत्या कराई। यह बात अनुमान के आधार पर नहीं लिख रहा हूँ। जहाँगीर स्वरचित आत्म जीवनी में इस बात को गौरव सूचक मानकर स्वयं लिख गये हैं। महामाया की लीला अद्भुत हैं। उस हत्या के समय भी कौन जानता था कि एक दिन वही उद्धत सम्राट अपने इतने आदरणीय तथा सम्मानास्पद शरीर को एक साधारण से हिन्दू सन्यासी के चरणों में स्वेच्छा से भूमि पर डालकर अपने को कृतार्थ मानेगा ! जहाँगीर ने अपने जीवन-चरित में नीचे की घटना लिखी है :—

हिन्दुओं का दमन करना मेरा एक प्रधान संकल्प था। एक दिन सुना कि सनातन (रूप गोस्वामी के भाई 'सनातन' नहीं।—) नाम से श्रीचैतन्य के एक भक्त ने मथुरा में आश्रम बनाया है और सिद्धाई दिखाकर साधारण व्यक्तियों को मुग्ध कर रहा है। यदि वह किसी प्रकार से धोखा देता हो या झूठा जादू दिखाता हो तो उसी अपराध के कारण उसे प्राण दण्ड दिया जायगा—ऐसा निश्चय कर मैंने परीक्षा के लिये एक व्यक्ति को सनातन के पास भेजा। भेजे हुए आदमी ने वहाँ से लौटकर कहा कि सनातन वास्तव में ही एक महापुरुष है। मैंने सोचा यह आदमी सनातन के कपट को नहीं समझ सका। इसलिये मैंने स्वयं ही सनातन के पास जाने का संकल्प किया। निर्दिष्ट दिन में योग्य व्यक्तियों को साथ लेकर मैं मथुरा पहुँचा एवं सनातन को अपने आगमन की सूचना देकर अपराह्न में उसके आश्रम में प्रवेश किया। वह आश्रम भूमि के नीचे एक गुफा मात्र थी। वहाँ जाकर देखा कि सनातन प्रशान्त भाव से बैठे हुए हैं। और उनके चारों ओर प्रायः चालीस शिष्य विद्यमान हैं। सनातन ने सम्मान के साथ मेरी अभ्यर्थना करना तो दूर रहा, मेरी ओर एकबार आँख उठाकर भी नहीं देखा, और न मुझसे कोई बात ही की। मैं सोचने लगा इसकी कैसी धृष्टता है मैं समस्त संसार का स्वामी हूँ। मेरे संकेत मात्र से इसी क्षण शिष्यों के साथ सनातन का देह प्राणहीन हो सकता है, तथा यह सारा आश्रम यमुना के गर्भ में डूब सकता है—ऐसा जानकर भी यह इस प्रकार से मेरी अवहेलना कर रहा है। परन्तु न जाने क्यों, उस समय मेरे मन में क्रोध का संचार नहीं हुआ। मैं वहाँ बैठ गया। कुछ समय बैठा रहा, किन्तु सनातन ने कुछ भी नहीं कहा। उनसे दो-एक बातें सुनने के लिये मुझे बहुत ही इच्छा

हुई। अन्त में सारे घृणा और लज्जा छोड़कर मैंने कुछ कहने के लिये सनातन से अनुरोध किया, किन्तु जानते हो—उन्होंने क्या कहा? वे बोले, "मैं एक ऐसे महिमान्वित सम्राट् का भजन करता हूँ, तुम्हारे जैसे लाखों नरपति जिसके अधीन पड़े हुये हैं" मेरे उद्देश्य को पूरा करने अथवा सनातन को प्राणदन्ड देने के लिये क्या यही अपराध पर्याप्त नहीं था? किन्तु न जाने क्यों इसबार भी मुझ में क्रोध का सञ्चार नहीं हुआ। मैं क्रमशः उनके आगे अपने को बहुत छोटा अनुभव करने लगा। तब मैंने विनयपूर्वक कहा—"कृपया मुझे कुछ उपदेश दीजिये"। सनातन ने कहा—"पक्षपातहीन होकर सत्यभाव से प्रजा का पुत्रवत् पालन करना'। बस, इसके सिवाय उन्होंने कुछ न कहा। इससे मैं उनके प्रति आकृष्ट हुआ। मैंने उन्हें सलाना पचास हजार रुपये आय की जायदाद देनी चाही। उन्होंने कहा—"जमींदारी लेकर मैं क्या करूँगा? विषयों की उलझन कौन सहन करेगा? विशेषतः मुझे तो अर्थ का कोई अभाव नहीं है। तुम्हारे जैसे अनेकों राजाओं से मैं अधिक ऐश्वर्यशाली हूँ।" मैं लज्जित हुआ। थोड़े समय पश्चात् संध्या हुई। एक व्यक्ति ने आकर दीपक जलाया। सब खड़े हो गये। सनातन ने भगवान का स्तवन और प्रार्थना की। प्रार्थना समाप्त होते ही सनातन के चारों ओर आकाश से सुवर्ण-वृष्टि होने लगी—सोने की अशरफियाँ गिरने लगीं। मैंने पहले ही उनकी इस सिद्धि के विषय में सुना था। वृष्टि होने पर गिनती करके देखा गया सात सौ मुहरें थीं। सनातनने उनके दो समान भाग करने को कहा। बँट जाने पर एक भाग मुझे देकर बोले, "इन तीन सौ पचास मुहरों को ले जाओ। अपने खजाने के कल्याण के लिये इन्हें अपने राजस्व विभाग के कर्मचारियों में बाँट देना। शेष आधी

मुहरों से यहाँ का खर्च चलाया जायगा। मैं अनेक प्रकार की भावनाओं में डूबा। मुहरें लेकर राजधानी की ओर चल दिया। चलने के समय मैंने तो महापुरुष को नमस्कार भी नहीं किया। परन्तु बहुत दूर निकल आया, अब क्या किया जाये ? इस प्रकार की चिन्ता में पड़ा हुआ था और (नमस्कार) न करने के लिये पश्चात्ताप कर रहा था कि उसी समय देखता हूँ कि पीछे से दौड़ता हुआ सनातन का एक शिष्य आ रहा है। उसने पास आकर कहा, "मेरे गुरुदेव ने आपका नमस्कार स्वीकार कर लिया है; अब आप और अनुताप न करें।" बहुत हुआ। मैं और नहीं सह सका। उसी समय आश्रम की ओर लौट पड़ा। आश्रम में प्रवेश करते ही अत्यन्त सौभाग्यवश सनातन को सामने ही पाया। अब कुछ भी न सोचकर मैंने अपने सम्पूर्ण शरीर को झुका उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया। सनातन ने स्नेह के साथ मुझे उठाया और कहा—"अब राजधानी को लौट जाओ और प्रजाका पुत्रवत् पालन करो। प्रजा की उन्नति की व्यवस्था करना ही राजा का कर्त्तव्य है। बस, मैं वहाँ से चला आया।"

इस घटना के विषय में मुझे जैसा स्मरण है, वैसा ही लिखा है। अब कहो कि जहाँगीर ने इस घटना को न छिपाकर अपनी आत्मजीवनी में अपनी कलम से इसे क्यों लिखा ?

और भी एक कहानी सुनो! जब बुद्धदेव अपने ज्ञान-वैराग्य की उज्ज्वल महिमा तथा मधुमय उपदेशावली से चारों ओर धर्म का विस्तार कर रहे थे, और सहस्रों व्यक्ति पतंग की न्याईं आकृष्ट होकर उनकी शान्ति-पताका के नीचे आश्रय ले रहे थे, उसी समय एक व्यक्ति (वह कौन था, याद नहीं है)—किसी कारणवश उनके प्रति अत्यन्त क्रुद्ध होकर कटु

शब्दों में उनकी भर्त्सना करने के लिये उनके तत्कालीन निवास स्थान पर गया। वहाँ खोज करने पर मालूम हुआ कि बुद्धदेव इस समय ध्यानमग्न हैं उसने देखा कि प्रतिहिंसा के लिये यही उत्तम सुयोग है। अतः वह उस समय उन योगिराज महापुरुष के समीप जाकर उनके प्रति गालियों की वर्षा करने लगा। कुछ समय पश्चात् बुद्धदेव ध्यानसे व्युत्थित हुए। किन्तु वे पूर्ववत् आसन पर स्थिर-भाव और प्रशान्त चित्त से बैठे रहें—एक शब्द भी नहीं बोले। प्रतिपक्षी के चुप रहने पर वह अकेला कहाँ तक बकवाद करता? इसलिये प्रतिवाद न होने से वाध्य होकर उस व्यक्ति को चुप होना पड़ा। तब धीरे-धीरे बुद्धदेव ने मुस्कराते हुए उससे पूछा—"अच्छा, कहिये, यदि आप किसी को कुछ दान करें और वह व्यक्ति उसे स्वीकार न करे, तो आप क्या करोगे? दिया हुआ धन कहाँ जायेगा? उस व्यक्ति ने तुरन्त उत्तर दिया, "क्यों, मैं अपना धन स्वयं ही वापस ले लूंगा। यदि वह न ले, तो क्या धन को रास्ते पर फेंक देना पड़ेगा? पहिले भी जैसे मैं ही धन का मालिक था, उस व्यक्ति के न लेने पर पीछे भी उसी प्रकार मेरा ही उस धन में सम्पूर्ण अधिकार रहेगा। यह तो सीधी बात है।" तब बुद्धदेव ने उत्तर दिया, "यदि ऐसा ही है, तो आपने जो इतने समय मुझे गालियाँ दीं, उन्हें मैंने स्वीकार नहीं किया। आपका धन आपका ही रहे।" तब तो वह व्यक्ति अपने बाण से स्वयं ही बिद्ध हुआ। कुछ समय पश्चात् उसे बड़ा अनुताप हुआ और उसका परिणाम यह हुआ कि वह बुद्धदेव की कृपा प्राप्त करके उनकी शिष्यमण्डली में प्रविष्ट हो गया।

स्वर्गाश्रम

२०-१-१९१४ ई०

४४

ॐ

नारायणेषु,

क्या आप टिट्टिभ के समुद्र शोषण की कहानी जानते हैं ? यदि नहीं जानते हैं तो आप पूज्यपाद श्रीयुत ..... से सुन लेना। प्राचीनकाल में इस देश के ऋषियों के मन में यह प्रश्न उठा था कि "सान्त मानव किस प्रकार आनन्त को प्राप्त कर सकेगा ?" अनन्त से हमारा व्यवधान भी तो अनन्त है। हमारी शक्ति धैर्य एवं सदिच्छा—सभी सामान्य हैं। यही नहीं, तपस्या में विघ्न भी बहुत अधिक और अपरिहार्य हैं। अतः क्षुद्र मानव के लिए यह संसार सागर के पार जाने की, और शांतिमय ब्रह्मानन्द प्राप्त करनेकी इच्छा क्या वास्तवमें एक क्षुद्रकाय टिट्टिभ की समुद्र शोषण की आक्षा के समान उपहास योग्य नहीं है ? किन्तु यह पक्षी भी जैसे असीम धैर्य एवं अदम्य अध्यवसाय के साथ प्रतिज्ञा पालन में लगे रहने से अन्त में पक्षि-राज गरुड़ की सहायता प्राप्त करनेमें समर्थ हुआ, वैसे ही विश्व-नटवर का वह नियम ही है कि जो व्यक्ति श्रद्धा, धैर्य, विचार और अध्यवसाय के साथ वैध उपायों द्वारा लक्ष्य सिद्धि के लिये लगे रहते हैं, वे अवश्य ही योग्य समय पर, योग्य सहायता प्राप्त करके पूर्णकाम हो जाते हैं। सब शास्त्र इसी वाक्य की पुष्टि करते हैं। हाँ, यह तो निश्चित है कि प्रारब्ध की भिन्नता

होने के कारण कोई जल्दी, और कोई देर से फल प्राप्त करते हैं। परन्तु उनकी चेष्टा व्यर्थ हो,—यह तो असम्भव है। "मेरी शक्ति अल्प है, प्रारब्ध बलवान है, और विघ्न समद्र की तरह बहुत अधिक हैं, इसलिये शीघ्र सफलता मिलना असम्भव है। अतः इस प्रकार की चेष्टा छोड़ देना ही अच्छा है,"–ऐसा सोचकर जो व्यक्ति प्रयत्न करना छोड़ देता है क्या वह कभी भी सफलता प्राप्त कर सकेगा? प्रयत्न करने पर हो सकता है कि—देर से फल मिले। किन्तु प्रयत्न न करने पर तो बिलकुल ही सफलता नहीं मिल सकती। अतः यदि जल्दी फल चाहते हैं, तो कर्म करें। कर्म के अनुसार मजदूरी मिलेगी ही। कर्मत्याग करने से एवं खिन्न होकर व्यर्थ कर्म में समय नष्ट करने से तो कुछ कुछ भी मजदूरी नहीं मिलेगी; न जल्दी और न देर से ही। यदि मैं आज रास्ते के अन्त तक नहीं पहुँच सकता तो केवल पांच हाथ चलकर क्यों न ठहर जाऊँ? कल बचा हुआ रास्ता तय करने की चेष्टा करूँगा। आज अन्त तक नहीं जा सकूंगा, इसलिये यदि घर लौट जाऊँ तो कल भी इसी तरह घर वापस आना होगा?

विचार द्वारा मन को बलवान बनाइये। "बल प्राप्ति ही सफलता है, और सफलता ही जीवन है।" इसके विपरीत निराशा ही विफलता है, और वही मृत्यु है।"

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"–बलहीन व्यक्ति आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता श्रद्धावान और वीर्यवान होइये। "आप अमृत के पुत्र हैं।" आपके भीतर अनन्त शक्ति का झरना है। कौन आपके वेग को रोक सकेगा? श्री जगदीश बाबाजी ने रोगी शरीर होते हुए भी साठ वर्ष की आयु में गृह

त्याग करके सिद्धि प्राप्त की थी। सचमुच तीव्र इच्छा होने पर भला दोष दूर करने में कितने दिन लगते हैं? थोड़ा भोग, थोड़ा सुख, और थोड़ा आराम—इन सबके प्रति मन रहने से ही देर होती है। इसलिये विषय सुख की आशा छोड़कर कर्म में लग जाइये। बुद्धदेव की न्याईं प्रतिज्ञा करके दृढ़ आसन पर बैठिये। "सत्यं ज्ञानमनन्तम् को प्राप्त करके मानव जन्म सफल कीजिये।

स्वर्गाश्रम
चतुर्थी

४५

ॐ

नारायणेषु,

साधन भजन में उन्नति अधिक से अधिक वैराग्य पर निर्भर करती है। जिसका वैराग्य जितना अधिक है, वह उतना ही जल्दी उन्नति कर सकता है। जिन्हें आप विघ्नरूप समझते हैं जो आपके साधन मार्ग के अन्तराय रूप हैं, वे अधिक वैराग्यवान साधक की कुछ हानि नहीं कर सकते। वैराग्यवान साधक उन्हें विघ्नरूप ही नहीं समझते।

साधना द्वारा ही इस वैराग्य को प्राप्त करना होगा। नियमित उपासना, शास्त्रानुसार तीर्थ-सेवन यथाशक्ति जीव-सेवा एवं भगवत् प्रीति के लिये समस्त कर्त्तव्य कर्मों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार सम्पादन करते हुए साधक क्रमशः शुद्ध- चिन्तन के साथ वैराग्य प्राप्त कर लेता है। यह तो करना ही होगा, इसके अतिरिक्त वैराग्य प्राप्ति के लिए विशेषरूप से एक कार्य और करना होगा। वह है—विषय में, आसक्ति में, तथा भोग में दोष-दर्शन। विचार एवं अनुभव के द्वारा प्रत्येक विषय में एवं प्रत्येक वासना में दोष-दर्शन करना होगा। पहिले-पहिले दोष-दर्शन बहुत हल्का होगा परन्तु अभ्यास करते रहने से क्रमशः आसक्ति कम हो जाएगी। जिसे देखने से आज सुख मिलता है, जिसे देखने के लिये आज प्राण छटपटाता है, दोष-दर्शन के अभ्यास से कुछ महीनों में उसे देखने की इच्छा ही नहीं रहेगी। इस प्रकार का अभ्यास कुछ समय तक चालू रखना होगा। दो दिन अभ्यास किया, फिर पाँच दिन बन्द रखा और दस दिन फिर किया इससे ठीक फल नहीं मिलता। सभी कर्म नियमित रूप से करने चाहिए। इस प्रकार वैराग्य के अभ्यास में पहिले पीछे कष्ट एवं असुविधा मालूम हो सकती है परन्तु भविष्य में इससे बहुत सुख सुविधा मिलेगी। किसी-किसी के लिए आरम्भ में किसी विशेष आसक्ति युक्त द्रव्य से दूर रहना ही उचित है पीछे मन बलवान होने पर उसके पास भी रह सकते हैं।

विषयों में दोष-दर्शन करते हुए उसके साथ वैराग्य को बढ़ाने वाली पुस्तकें पढ़ना और वैराग्य की उपकारिता के विषय में चिन्तन करना भी बहुत जरूरी है। अपनी और कुटुम्बियों की मृत्यु के विषय में चिन्तन करना भी बुरा

नहीं है। अपनी मृत्यु का चिन्तन एवं परलोक का चिन्तन साधारण मानव को धर्म मार्ग में प्रेरित करते हैं। "गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।" जब मृत्यु प्रति मुहूर्त में ही आ सकती है, तब क्या हमें जल्दी ही कुछ पाथेय संग्रह करना उचित नहीं है? एक बात और है—जिनके साथ आप अपना अविच्छेद्य सम्बन्ध समझते हैं, तथा जिनके लिये आपको धर्मप्राप्ति में बाधा आती है, वे भी विधाता के विधान से, आपकी और उनकी इच्छा एवं अनुमति न होने पर भी, किसी भी मुहूर्त में परलोक गमन कर सकते हैं। आप भी किसी भी क्षण में उनसे चिरकाल के लिये विदा ले सकते हैं। तब आप स्वजनों की माया से ममता में फँसकर क्यों कर्त्तव्य से च्युत होते हैं? जिस दिन पूज्यपाद श्रीधर स्वामी की माता का देहान्त हुआ, उस दिन वे आनन्द से नाचने लगे, कहने लगे—"आज से साधन करने का सुयोग मुझे मिलेगा।"

साधना में इन सब भावनाओं द्वारा समग्र जीवन को नियन्त्रित करना होगा। जो भावना साधन के लिये अनुकूल है, उसको कर्म जीवन में यथा-साध्य पुष्ट करने की चेष्टा करनी चाहिये। सरलता एवं उदारता जितनी बढ़ेगी, उतना ही अच्छा है।

इस प्रकार चलने से यदि संसार में कुछ असुविधा भी हो, तो उससे हानि भी क्या? संसार जैसा है, उसे उसी रूप में लेकर भगवान के पास पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

स्वर्गाश्रम
२०।११।१९१७

४६

ॐ

नारायणेषु !

जो बिना जाने अन्याय कर्म करता है और जो जानकर करता है—इन दोनों में समाज साधारणतया दूसरे व्यक्ति का ही अधिक तिरस्कार करता है। पहले व्यक्ति की किसी से घृणा, किसी से अवहेलना या उदासीनता, किसी से दया और क्षमा, एवं किसी से शान्ति मिलती है। साधारण स्थूलदर्शी मानवों के विचार इसी प्रकार के होते हैं। हम प्रत्येक के भीतर के कुछ अंशों को देख पाते हैं और उसी को लेकर अपनी बुद्धि के अनुसार समालोचना करते रहते हैं। परन्तु जो सूक्ष्मदर्शी त्रिकालज्ञ एवं विशेषज्ञ होते हैं उनके विचार और प्रकार के होते हैं उनके विचार इतनी सुगमता से नहीं जाने जा सकते।

अच्छा एक बात पूछता हूँ—इन सब विचारों से हमारा क्या प्रयोजन है ? ये विचार हमारे कौतूहल को क्यों बढ़ाते हैं ? हम आम खाने के लिए आए हैं, पत्तों का विचार करने से क्या लाभ—व्यर्थ-चिन्तन तथा व्यर्थ कर्म में तो समय ही नष्ट होता है। जितना संभव हो, हमें केवल आम खाने की चेष्टा करनी चाहिये। "अव्यर्थ-कालत्व" या एक मुहूर्त को भी नष्ट न करना ही क्या हमारा मूलमन्त्र (प्रधान ध्येय) नहीं होना चाहिये।

बहुतों के साधनमार्ग में अभिमान का कठिन अन्तराय वर्तमान है। कोई-कोई उसे अन्तरायरूप समझ कर भी मानों समझना नहीं चाहते। जबतक अपना आलोक वर्तमान रहेगा, तबतक भगवान का आलोक प्रकाशित होने की संभावना कहाँ? अभिमान में भी बुद्धि और धर्म के अभिमान (मैं बहुत धार्मिक हूँ) तो बहुत ही भयंकर होते हैं। अभिमान के कारण ही शास्त्रपाठ और साधु-संग का पूर्ण फल नहीं मिलता। महापुरुषों की कृपा भी बहुत समय साधक के अभिमानरूपी कवच से टकराकर लौट जाती है।

भगवान की अयाचित करुणा को, जो सर्वदा ही प्रवाहित होती रहती है, अभिमानी मानव जान भी नहीं सकते।

जीव और शिव के बीच में एकमात्र अभिमान का पर्दा ही विद्यमान है, "मैं" मर जाए तो सब झंझट मिट जाए। मैं के मरने से ही परम शिव प्रकाशित होते हैं।

प्रत्येक की बुद्धि भिन्न-भिन्न है। और समय-समय पर भी बुद्धि में भिन्नता पाई जाती है यह जानते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि 'मेरी बुद्धि ही अभ्रान्त है'।

बुद्धि यदि निर्मल होती, तो अवश्य ही भगवद्-दर्शन हो जाता। जब बुद्धि मलिन ही है, तब उसे अभ्रान्त क्यों मानते हो?

हम अपने को जितना अधिक बड़ा मानते हैं, उतने ही दूसरे पर श्रद्धा सम्पन्न नहीं हो पाते।

अपने को जितना अधिक शक्तिमान मानते हैं, उतने ही हमें दूसरे पर निर्भर करने की अनिच्छा व असमर्थता

रहती है फिर अभिमान तो नष्ट होता प्रतीत होते हुए भी वास्तव में पूर्णतया नष्ट नहीं होता। "मुझे अभिमान नहीं है"- यह भी एक प्रकार का अभिमान ही है।

विचार और प्रार्थना की सहायता के बिना, इस दुःसाध्य व्याधि से मुक्त होना सम्भव नहीं है। सर्वदा ही सावधान रहना पड़ता है। हमारे न जानते हुए भी कितने नये-नये वेष में सजकर अभिमान हमें मुग्ध और प्रताडित करता रहता है।

अच्छा, इस प्रसंग की समाप्ति के पहिले एक बात पूछता हूँ। "अभिमान को यदि कोई सच्चिदानन्द का आत्म-प्रचार समझे, तो उसे तुम क्या कहोगे ?"

शिवमस्तु। इति।

वारिशाल
२२-३-१६१६ ई०

४७

ॐ

नारायणेषु !

जिस कार्यक्रम के अनुसार चलना हो, उसे अपने मन, शारीरिक स्थिति, एवं प्रयोजन के प्रति लक्ष्य रख कर ही बनाना चाहिये। अन्यथा उसके अनुसार चलना सम्भव और उचित नहीं होगा। शरीर और मन जितना परिश्रम कर सकें एवं शरीर की वर्त्तमान स्थिति में उसे जितने परिश्रम में लगाना ठीक हो, उससे अधिक बोझा शरीर और मनपर लादने से वे सम्भवतः सहन नहीं कर सकेंगे और बलपूर्वक ऐसा कराया जाय तो स्वास्थ्य रक्षा नहीं होगी।

इस सिद्धान्त को सामने रखकर जो कार्यक्रम बनाओगे, उसके अनुसार चलने के लिये तुम्हें अपने मनको बाध्य करना होगा। मन क्रीतदास की न्याईं उस कार्यक्रम का अनुसरण करेगा। यदि वह स्वेच्छासे निर्दिष्ट समय पर निर्दिष्ट कार्य न करना चाहे तो भी उसी कार्य में ही उसे लगाए रखना होगा। उसकी इच्छा के अनुसार कार्य में उसे मत लगाओ; क्योंकि वैसा करने से ढीट बन जाएगा। परन्तु सर्वदा विचार करना कि मन जो कार्य करना नहीं चाहता, उसमें मनका दोष है या तुम्हारा। देखना, कि तुम्हारा यह सेवक बुरी नीयत से

कार्य नहीं करना चाहता या वह कार्य शक्तिसे बाहर है, इसलिये नहीं कर सकता। उसपर अधिक बोझ मत डालना। बिना विचार एक पग भी चलना मुश्किल है।

प्रार्थना करने से जगत् के निर्दिष्ट नियमों में परिवर्तन नहीं होता। जिस नियम ने जगत् की सृष्टि की है एवं उसे परिपालित कर रहा है, जो कवि वर्डजवर्थ के शब्दों में "One Law, One Rule, One Government" है—अर्थात् एक विधान, एक नियम, एक शासन है, उसके बाहर क्या कुछ रह सकता है? प्रार्थना भी उसी के अन्तर्भूत है। कोई प्रार्थना करेगा, कोई प्रार्थना के अनुसार वस्तु प्राप्त होगी ऐसा सोचेगा, कोई तो प्रार्थना के अनुकूल वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई है—ऐसा मानेगा तथा कोई प्रार्थना नहीं करेगा, और कोई प्रार्थना की आवश्यकता भी नहीं समझेगा— यह सभी बातें विधान के अन्तर्गत हैं। किसी की मृत्यु आज ही निश्चित है, इसलिये कोई आज ही तलवार से उसका गला काटेगा—यह भी निश्चित है। पुनः किसी स्थान पर कोई दूसरे की हत्या करने की इच्छा से उसके गले पर आघात करेगा, किन्तु उसकी इच्छा पूरी नहीं होगी—यह भी निश्चित हैं। भगवत् विधान से प्रेरित होकर कोई पढ़ता हैं, एवं उस विधानवश ही कोई पुरस्कार-प्राप्तिरूप फल पाता है अथवा नहीं पाता। अभिमानी मानव इन सब बातों को नहीं समझते। वे अपने को ही कर्त्ता समझते हैं। वे जानते हैं—सर्प दंशन करता हैं, आदमी कष्ट पाता है, ओझा उसे मन्त्र द्वारा उतारता हैं, वह उसके द्वारा मरता है या जीवित रहता है। वास्तव में तो यह सब एक ही यन्त्री के कार्य हैं। हम यन्त्र हैं, और भगवान ही यन्त्री हैं; किसी की किसी भी विषयमें स्वतन्त्रता नहीं है। अज्ञानी मानव

सोचता है कि मैं प्रार्थना करता हूँ, मुझे फल मिलता है अथवा प्रार्थना नहीं करता'''' इत्यादि। जब वह समझने लगता है कि एक ही विधान का शासन चल रहा है, तब उसके कर्त्तव्य व कर्म, कर्तृत्व बुद्धि एवं दौड़धूप क्रमशः कम हो जाते हैं।

अन्त में जब वह अदृष्ट के कर्तृत्व को सम्पूर्ण तया समझ लेता है, तब बिल्कुल चुप हो जाता है। इसलिये प्रार्थना के अन्त में भी मौन है। दूसरी प्रकार से भी समझोगे कि प्रार्थना क्रमशः उच्चसे उच्च स्तर में चढ़ती हुई अन्त में मौन में ही समाप्त होती है।

तुम्हारे प्रश्न के बाहर होने पर भी प्रार्थना के विषय में यहाँ एक और बात कह दूँ। प्रार्थना यदि ठीक-ठीक नियम के अनुसार की जाए; सरलता के साथ, एकनिष्ठा के साथ, व्याकुलता के साथ की जाए और प्रार्थना की पूर्ति न होने तक उसी एक प्रार्थना को पकड़ कर रह सको तथा दूसरी प्रार्थना न करो, तो देर या सबेर वह प्रार्थना अवश्य पूर्ण होगी —यह भी विधाता का एक अटूट नियम है। जो लोग सोचते हैं कि उन्हें प्रार्थना का फल नहीं मिला, उनकी प्रार्थना योग्य रीति से नहीं की गई—यह निश्चित बात है। कोई योग्य रीति से प्रार्थना करके निर्दिष्ट फल को प्राप्त करता है, कोई प्रार्थना या योग्य प्रार्थना के बिना ही कभी कुछ प्राप्त कर लेता है। कोई योग्य प्रार्थना न करके भी अपनी प्रार्थनाको योग्य समझता है, एवं वह पूर्ण नहीं होती तो ससझता है कि प्रार्थना से फल नहीं मिलता यह सभी विधाता के नियम हैं, अन्ततः यह स्मरण रखना कि जो कुछ हो रहा है, वह सब हो एक महानियम की ही क्रीड़ा है। यह सभी उस नियति के अधीन है। अन्य किसी

का स्वातन्त्र्य या स्वाधीनता नहीं है। उस महानियति के विधान से ही मानव अभिमान के वश होकर अपने को स्वाधीन कर्त्ता समझता है, एवं उस महानियति के नियम से ही कभी किसी मनुष्य का अभिमान नष्ट होने पर वह अपने को अकर्त्ता समझ पाता हैं।

श्रीकाशी धाम।

४८

ॐ

नारायणेषु।

वैराग्य के लिये केवल वाचिक प्रार्थना करने से कर्त्तव्य की समाप्ति नहीं होती। उसके लिये एकान्तिक चेष्टा चाहिये। वैराग्यवान् महापुरुषों के जीवन चरित्र की अवलोकन तथा अनुकरण की चेष्टा कीजिये। धर्म पुस्तकों से त्याग का माहात्म्य पढ़िये और त्याग की उपकारिता एवं आसक्ति की अपकारिता (हानि) के विषय में चिन्तन कीजिये। कर्म जीवन में जहाँ तक हो सके, त्याग का अनुष्ठान करने की चेष्टा कीजिये। जिस पर अधिक आकर्षण होता है, (दुःख जनक होने पर भी) उसका परित्याग करने की चेष्टा करनी चाहिये।

जगत् की, यहाँ तक कि अपनी देह की भी ममता त्यागनी होगी, तभी शान्ति मिलेगी। अपूर्ण त्याग से काम नहीं चलेगा। इन पाँच वस्तुओं को तो पकड़े ही रहूँगा तथा इन पाँच व्यक्तियों के मन को तो खुश करूँगा ही, शेष सबके परित्याग की चेष्टा करूँगा—ऐसी भावना से उन्नति नहीं होगी। 'चाहे कुछ हो, सब परित्याग कर दूँगा' 'त्याग की चेष्टा' का क्या तात्पर्य है? 'त्याग की चेष्टा'—इस 'चेष्टा' शब्द में ही सारी दुर्बलता विद्यमान है। त्याग करना ही 'त्याग' है। 'इसी मुहूर्त्त में त्याग दिया—इसी का नाम है 'त्याग'। 'कल से त्याग करूँगा'—'इसके पश्चात् त्याग करूँगा'—'धीरे-धीरे त्याग करूँगा'—यह सब बातें सच्चे त्याग, सच्चे साधक तथा सच्चे वीर पुरुष की नहीं हैं। सच्चे त्यागी के पास व्यर्थ विचार नही हैं। भगवान को प्राप्त करना ही परम उद्देश्य है। भगवान को प्राप्त करना ही श्रेष्ठतम कर्त्तव्य है। उस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सब कुछ त्यागने की आवश्कता है। अतः इसी मुहूर्त्त में मैंने सब त्याग दिया—यह है साधक का वचन। यदि आप इस आदर्श को स्वीकार न कर सकें तो जितना सम्भव हो इसकी ओर बढ़ने की चेष्टा कीजिये और इस आदर्श तक पहुँचने की शक्ति प्राप्त करने के लिये माँ के सामने रोते रहिये। पूर्ण त्याग में प्रतिष्ठित होने से पहले वह रोना बन्द न हो—इसका ध्यान रखिये। जब भी मनमें कामना उठे एवं मन चञ्चल हो तभी माँ का आँचल पकड़कर प्रार्थना करते रहिये। जब भी सम्भव हो, त्याग के लिये प्रार्थना कीजिये। इस प्रार्थना को दिनरात चलाए रखिये। दूसरी ओर हृदय को भी थोड़ा दृढ़ करने की चेष्टा कीजिये, जिसे इतने लोग कर सकते हैं और इतनों ने किया भी है उसे आप क्यों नहीं कर सकेंगे? कितने ही बालकों

ने जो त्याग अनायास कर डाला, उसे आप क्यों नहीं कर सकेंगे ? अपने-बलवीर्य को थोड़ा जागृत कीजिये और यदि ऐसा समझते हैं कि अपने में बल नहीं है तो सोलह-आने मन प्राण से माँ की गोद के शिशु होकर रहिये।

आपने लिखा है कि श्रीकाशी धाम में जैसी मन की अवस्था थी, वैसी यहाँ पर नहीं है। सम्भवतः श्रीकाशी धाम का स्थान महात्म्य है। स्थानीय मूल्य के ऊपर निर्भर न रहकर आन्तरिक मूल्य को बढ़ाने का यत्न कीजिये।

श्रीकाशी धाम
२६ माघ १३२५ बंगाब्द ॥

४६

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। मैंने तुम्हारी वर्तमान बिमारियों के विषय में विचार किया है। मैंने उनकी आगामी स्थिति जो कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं, कल्पना करने का प्रयत्न किया है। मैंने तुम्हारी मानसिक स्थिति एवं आवश्यकता के विषय में भी विचार किया है; और इनके परिणामस्वरूप मुझे जान पड़ता है कि यदि तुम शीघ्रातिशीघ्र दक्षिण के गर्म स्थान में वापिस आ जाओ तो वह

तुम्हारे लिये अनुकूल ही होगा। ध्येय तक पहुँचने के लिये हम किसी विशेष मार्ग पर दृढ़ता से चलने की इच्छा कर सकते हैं। जो बाधायें हमारे सामने उपस्थित होती हैं, उनके द्वार को सुगमता से बन्द करने की चेष्टा भी कर सकते हैं, किन्तु जगन्माता अपने प्रेमिल ज्ञान से कभी-कभी और भी विशाल विघ्न बाधायें प्रस्तुत कर देती हैं, केवल हमारे महान दुष्ट अहंकार को दबाने के लिये, जो कि हमारे हृदय में अबतक जागृत हैं, इसी तरह हमें अपने शान्तिमय सन्निधि के लिये बहुत ही शीघ्र जैसा कि हम अपने दम्भ तर्क से अनुमान या आशा भी नहीं कर सकते हैं, हमें आकृष्ट कर लेती हैं। इसलिये उनकी महती इच्छा के सामने प्रेमिल श्रद्धा से सिर झुका दो और उनका आश्रय लेकर सन्तुष्ट रहने की चेष्टा करो। चाहे कहीं भी रखा जाये और हम कैसे ही रहें, हमें इस उच्च सत्य को 'कि वे जो कुछ करें, सभी हमारे उपकार के लिये ही हैं और इससे अधिक अच्छा हमारे लिये नहीं किया जा सकता था,' कभी न भूलें। हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि वे पूर्ण प्रेमरूपा, पूर्ण ज्ञानमयी हैं और वे सदा सर्वदा हमारे साथ हैं तथा हमारे विषय में सचेष्ट (सजग) भी हैं। वे अपने एक दीन शरणागत पर कृपा करने में प्रचुर सामर्थ्य रखती हैं। यहां तक कि एक परिव्राजक पर भी, जो दक्षिण देश के गर्म स्थान में या हिमावृत उत्तर प्रदेश में, अथवा एक कोलाहलपूर्ण व्यस्त नगरी में या एक एकान्त वन के नीरव स्थान में विचरते रहते हैं।

कलकत्ता
१६-१-'१७ ईं राजी।

५०

ॐ

नारायणेषु !

आपका पत्र मिला। आपमें उन बालकों की न्याईं वैराग्य क्यों जागृत नहीं होता ? क्या उसके कारण पर आपने विचार किया है ? उन बालकों में और आपमें क्या भेद है—इसपर यदि आप विचार न करें और उसके अनुसार यदि जीवन की गति को बदलने की चेष्टा न करें तो ऐसे खेद करने का क्या मूल्य है ? ओर उसका क्या प्रयोजन है ? "Dharma first, Everything else, afterwards, if necessary and passible"—पहले धर्म पीछे और कुछ; वह भी यदि आवश्यक और सम्भव हो। इसी ध्येय को बालकों ने सरलता से अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ कर रखा है। ऐसा न करके यदि 'world first and Dharma, next'—संसार पहले और धर्म पीछे'—इस मूलमन्त्र का अनुसरण करें तो यथार्थ धर्म का लाभ प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। कुटुम्बियों की अनिच्छा, पितृदेव का तिरस्कार एवं अभिशाप तथा सांसारिक झंझट—इनमें से कोई भी कारण धर्मोपार्जन के लिये ज्येष्ठ या आश्विन मास में विदेश गमन का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता उनके साथ अपनी इच्छा एवं प्रकृति को तोलकर देखना।

माँ, चाचा, पत्नी और भाई को राजी रखूंगा फिर सम्भव हो सका तो धर्मोपार्जन की चेष्टा करूंगा—इस प्रकार की मति यदि उनकी होती तो आज वनगमन न करके अनेकों बुद्धिमान लोगों की तरह वे भी संसार सेवा में लगे रहते। अर्थ एवं शरीर के प्रति यदि इन श्रीमान् बालकों को बहुत आकर्षण होता, यदि यश और मान की रक्षा के लिये उन्हें चेष्टा करने की आवश्यकता का बोध होता, समाज को खुश करना ही यदि वे अपना कर्त्तव्य समझते तो वे भी अन्य अच्छे बालकों की भाँति संसार धर्म का निर्वाह करते हुए चिरकाल तक समय व्यतीत कर सकते थे। धर्मलाभ करना ही आवश्यक है और एकमात्र यही आवश्यक है—ऐसा यह लोग समझते हैं एवं इस ध्येय की सिद्धि के लिये अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। यही धर्म परायण लोगों का लक्षण है। सभी ओर की रक्षा का ख्याल रखने से किसी की भी रक्षा नहीं हो सकती, केवल 'हा हतोऽस्म' ही अवलम्बन रह जाता है। जिसे लोगों का मनोरंजन करना पड़ता है, उसे भगवान में मन लगाने का कब अवसर मिलेगा और उसमें सामर्थ्य भी कहाँ ? अधिक लिखने की क्या आवश्यकता है ? क्या आप नहीं समझते किन्तु समझ के अनुसार कर्म नहीं होता—इतनी ही गड़बड़ी है। दो-दिन पहिले अमुक मरा था, कल अमुक मर गया, इससे आज मन में कुछ गड़बड़ है। अच्छा यदि कल अमुक मर जाए तो मन में कैसा आन्दोलन होगा और कैसा होना चाहिये। इस विषय में थोड़ा विचार करके देखना, यदि आप अभी मृत्यु को प्राप्त कर परलोक सिधार सकते हैं, वैसे ही आप स्वेच्छा से वनगमन नहीं कर सकते। आपका जो परिजन इसीक्षण मृत्यु का ग्रास होकर आपको त्याग सकता है

उसको आप जीवित अवस्था में नहीं त्याग सकते। जो संसार आपकी मृत्यु के पीछे भी चल सकता है। उस संसार का बोझ स्वेच्छा से आप अपने कन्धे से उतारने में राजी नहीं होते। जो शरीर मृत्यु के पश्चात काम चेष्टा नहीं करेगा, वह क्या जीवित अवस्था में काम वेग सहन नहीं कर सकता? "धर्मलाभ नहीं हो रहा है"—इसी दुःख से आप प्राण त्यागने को भी तैयार हैं-ऐसा सुनने में आता है, फिर क्या आप जीवित रहते हुए बन्धु-बान्धव, व्यापार वाणिज्य एवं यशमान की माया छोड़ नहीं सकते? समझना होगा—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का फला-फल क्या है। चिन्तन एवं विचार द्वारा कर्तव्यों के संस्कारों को जागृत तथा दृढ़मूल करना होगा एवं उसके अनुसार चलने की चेष्टा करनी होगी। जो तीव्र इच्छा के वेग को रोक सके ऐसा 'ऐरावत' जगत में नहीं है। धर्मलाभ के लिए जो व्यक्ति अपनी सारी शक्ति (चाहो वह कितनी क्षुद्र हो) लगा देता है, ईश्वरीय शक्ति वराभयहस्त से अवश्य ही उसका अनुगमन करती है। चेष्टा न करके केवल दीर्घश्वास लेने—हताश होने से क्या लाभ? क्या श्रीमानों से आपकी शक्ति कम है? या साधन का सुयोग कम है? मैं तो जानता हूँ, अल्प है केवल एक वस्तु, वह है-'इच्छा-तीव्र-इच्छा' इच्छा होनेपर मार्ग का अभाव नहीं रहता। सम्भवतः आप कहेंगे "मैं तो अवश्य धर्मलाभ करना चाहता हूँ किन्तु प्रियजनों की सम्मति नहीं है।" इस बात में कुछ सार नहीं है। क्या आत्मीयजनों की सभी लालसायें किसी प्रकार से भी पूरी करनी ही होंगी? आपका जीवन क्या पूर्णतया उनके पदतल में सदा-सदा के लिए बिक चुका है? यदि ऐसा ही है तो फिर क्यों उनकी अनिच्छा से धर्मलाभ की चेष्टा

क्यों करते हैं ? अथवा आप में धर्मवासना की गम्भीरता ही कितनी है ?

"बन्धुर्बन्धनम्-बध्यते आस्मिन इति ।" बन्धु ही बन्धन हैं । बन्धन और मुक्ति का एक साथ भोग नहीं किया जाता । जितना ही बन्धुओं का मन रखने की चेष्टा करेंगे एवं विचारयुक्त धर्म का परित्याग करेंगे, उतनी ही दुर्बलता बढ़ेगी । जिस द्रव्य में आसक्ति हैं । उसका जितना अधिक चिन्तन करेंगे उतना ही उसके प्रति आकर्षण बढ़ेगा और उसका चिन्तन जितना कम करेंगे, उतना ही आकर्षण कम होगा ।

भावना से ही मनुष्य गठित और परिवर्तित होता है । भावना के परिवर्तन से जो आज देव है, वही कल असुर हो जाता है, और आज जो असुर है, वही कल देवता हो जाता है । भावना के परिवर्तन से एक कीड़ा थोड़े समय में ही दूसरे कीड़े के रूप में परिणत हो जाता है । जैसा भाव वैसा लाभ । यदि पुरानी बुरी भावनाओं को त्यागकर नवीन सद्भावों को आश्रय देते रहेंगे, तो जीवन उन्नत होगा । चेष्टा करते हुए ही चेष्टा फलवती होती हैं । इसके लिये चाहिये केवल मनकी दृढ़ता और—और कुछ नहीं । आवश्यकता है प्रतिज्ञा के बल और अध्यवसाय की । पहिले थोड़ा-सा कष्ट होता है कि जितने आगे बढ़ेंगे, उतना ही कष्ट कम होगा । अन्त में आज जो सुख-कारी प्रतीत होता है वही दुखद लगेगा एवं आज जो दुखद है वही सुखदायी हो जाएगा । भावना को बदलते रहिये । चाहे और कुछ कर सकें । या न कर सकें । क्लेशसाध्य शारीरिक तपस्यादि यदि सम्भव न भी हों, तो भी चिरकर्मी मनकी

सहायता से सद्भावों की पुष्टि करने की चेष्टा कीजिए। भाव: शुद्धि होने से सब ठीक हो जाएगा।

शिवमस्तु। इति॥

श्रीवृन्दावन धाम।

५१

ॐ

नारायणेषु,

मैंने तुम्हें सूचित किया था कि अब तुम्हें और अधिक पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं है; तो भी तुम पुनः-पुनः पत्र की आशा रखते हो। कोई-कोई व्यक्ति सौ-सौ व्यक्तियों से सद्-उपदेश प्राप्त करके, अगणित ग्रन्थों का अध्ययन करके भी अपने चित्त और अभिमान को अधिक भार-ग्रस्त ही कर लेते हैं। किन्तु उनके कर्म और जीवन उन श्रुत एवं अधीन विद्याओं से नियन्त्रित नहीं होते। बहुत से लोग तकिये पर सिर रखकर विचारहीन, भाव-प्रवण हृदय से एक कल्पना-कुशल सूक्ष्म

शरीर की सहायता द्वारा बहुत से हवाई महल बनाते रहते हैं; परन्तु स्थूल शरीर की वास्तविक तूलिका से वे महल चित्रित नहीं हो पाते। कई लोग मञ्च पर खड़े होकर या लेखनी की सहायता से ख्याति प्राप्त करते हैं; परन्तु जब प्रस्तुत कार्य को करने का समय आता है तब उनमें से बहुतों का खोजने पर भी पता नहीं लगता। मैं तुम्हें तुम्हारे यौवनके आरम्भ में ही सतर्क किये देता हूँ कि तुम्हारे जीवन का व्यवहार भी इसी प्रकार न बन जाए। मैं उन व्यक्तियों को बुरा नहीं कहता; परन्तु तुम्हें उनसे अधिक श्रेष्ठ होने को कहता हूँ। उपाय को उद्देश्य के स्थान पर मत रखना। लिखना-पढ़ना और विद्याभ्यास-ये सब जीवन की तैयारी के लिये ही हैं। जीवन को तैयार न कर, केवल लिखने-पढ़ने में सारे समय को व्यतीत करना क्या अच्छा है? अधिक पढ़ने व अधिक सुनने के नशे को छोड़ दो। केवल कल्पनामय भावना को त्याग कर कर्म में प्रवृत्त हो जाओ, बातें छोड़कर कर्मी बनो। जो अधिक बोलते हैं या अधिक सुनते हैं, वे अधिक कर्म नहीं कर सकते। अंग्रेजी में एक कहावत है—"A barking dogs seldom bites" जो गरजते हैं, वे बरसते नहीं। इसलिये तुम केवल कहने वाले न होकर करने वाले बनो। जो लोग यथार्थतः कर्मशील होते हैं, वे अधिक बोल-चाल पसन्द नहीं करते। वे आराम प्रिय नहीं होते और परिश्रम करनेसे नहीं डरते। उनका कथन होता है—"महाशय! मेरे लिये क्या करना आवश्यक है—बताइये!" बातें सुनकर और उनको भलीभाँति समझ कर वे कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। कर्म समाप्त करके फिर आकर कहते हैं—"महाशय! अमुक दिवस आपने इस प्रकार बताया था, उसके अनुसार अमुक-अमुक कार्य इस प्रकार किया था। उसके कोई दोष हो तो सुधार कर दीजिये

और अब फिर क्या करना होगा—बताइये।" वे जानते हैं कि समय अल्प है और कार्य बहुत हैं इसलिये वे व्यर्थ की बातें नहीं करते और बहुत सुनना भी नहीं चाहते, इसलिये तुमसे भी कहता हूँ कि बातें छोड़कर कार्य में लग जाओ। जिस मुहूर्त्तमें तुम किसी सत्कर्म का अनुष्ठान करते हो, उसी मुहूर्त्त में ही तुम सचमुच जीवित रहते हो और जो समय व्यर्थ नष्ट करते हो उस समय तुम श्वास पर श्वास लेने पर भी मृतक हो। ख्याल रखना, जीवन-नाट्य में द्विजेन्द्र बाबू के 'नन्दलाल' की न्याई हास्यास्पद चरित्र का अभिनय न हो जाय तुमसे। (बंगालके सुप्रसिद्ध कवि द्विजेन्द्रलाल राय हैं, और नन्दलाल उनकीलिखी कविता का एक चरित्र नायक हैं।

पहले के पत्रों में कर्मयोग के विषय में ही चर्चा की थी, उस विषय को ही पुनरावृत्ति करके आज यह पत्र समाप्त करूँगा। सेवा, उपासना, विद्याभ्यास तथा अन्यान्य कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से—भगवत् प्राप्ति के लिये सानन्द चित्त से प्रसन्नतापूर्वक सुसम्पन्न करने की चेष्टा करना तथा प्रतिदिन के निर्दिष्ट कर्मों में समय-निष्ठा एवं नियम-निष्ठा का पालन करना चाहिये। नियम-निष्ठा के बिना संयम की सिद्धि नहीं होती और संयम के बिना मन की चञ्चलता एवं अपवित्रता का निवारण नहीं होता। अतः पूर्ण प्रयत्न से नियम-निष्ठ बनना चाहिये। विद्याभ्यास में, आहार-निद्रा में, वेष-भूषा में, सर्वदा ही नियम-निष्ठा को पुष्ट करना चाहिये और इसके लिये यदि आवश्यक हो तो हानि भी सहन करनी चाहिये। अपने व्यवहार में आने वाली वस्तुओं को सुव्यवस्थित रूप से योग्य स्थान पर रखना चाहिये। वस्त्रादि को स्वच्छ रखो। परन्तु विलासिता को मत बढ़ाओ। सर्वदा शिष्टाचार की

मर्यादा का पालन करो। 'आलस्य महापाप है'—यह बात सदा-सर्वदा याद रखो और स्वार्थ-बुद्धि को छोड़कर परार्थ एवं परमार्थ सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त रहने की चेष्टा करो। याद रखो, धन की सार्थकता दान में, शरीर की सार्थकता पुण्य में और मन की सार्थकता सच्चिंतन में है। जब भी अपने में दुर्बलता की भावना आवे तभी भगवान की कृपा के लिये प्रार्थना करो और भगवत्कृपा पर विश्वास रखो। वे तुम्हारे साथ ही हैं और तुम्हारी बातें सुनते हैं। यह कभी मत भूलो। उपरोक्त विधि से जीवन व्यतीत करो। रोते-रोते संसार में आए हो प्रयत्न करो कि हँसते-हँसते इस स्थान का परित्याग कर सको। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

श्रीकाशीधाम।

५२

ॐ

निरापत्सु ।

चावल-दाल आदि (भोजन-सामग्री) के संग्रह बिना जैसे रसोई नहीं होती वैसे ही शरीर स्वस्थ न रहने से साधन-भजन भी नहीं होगा। साधन-भजन के लिये जबतक इच्छा और चेष्टा वर्त्तमान हैं, तबतक शरीर-रक्षा को भी साधन का अंग मानना पड़ेगा। शरीर को स्वास्थ्य सम्पन्न बना लेने पर जब देह के प्रति मन आकृष्ट नहीं होता, तब भी नाना कारणों से शरीर अस्वस्थ रहने पर भी साधन में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकेगा। हाँ, यह तो सच है कि भगवान पर निर्भर करने से सर्वशक्तिमान विधाता स्वास्थ्य और मुक्ति दोनों दे सकते हैं; परन्तु सोचकर देखना निर्भरता का एक प्रधान अंग है—धैर्य।

'अहम्' को नष्ट न करने से निर्भरता नहीं होती; निर्भरता होने पर अन्य कोई साधन नहीं रहता; साधन में फल प्राप्ति चाहे जल्दी हो चाहे देर से, उसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता। निर्भरशील सोचता है—शरीर मन, प्राण सभी उनके हैं, साधन करने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है उन्हें प्राप्त करने का किसी प्रकार का दावा मैं नहीं कर सकता। केवल

भरोसा है—उनकी अहैतुकी कृपा पर; सो उनकी जब भी इच्छा होगी, वे प्रदान करेंगे। उनपर ही पूरा भरोसा है। मेरा भला-बुरा, सभी उनके हाथ में है। जब उनकी खुशी होगी तभी वे कृपा करेंगे। वे मंगलमय विधाता हैं—उनसे अमंगल या अशुभ होगा ही नहीं—उनसे अशुभ होना असम्भव है। जो वे करेंगे, सब मेरे कल्याण के लिये होगा। वे शिव-शुभ, शंकर विष्णु हैं। वे पतित-पावन, दीन-बन्धु और अधम-तारण हैं। वे ही मेरे एकमात्र अवलम्बन, आश्रय तथा गति हैं। उनकी इच्छा पूर्ण हो। "हे भगवन्! हे प्रभु! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो। मैं छोटी से छोटी कोई भी कामना लेकर तुम्हारी इच्छा पूर्ति के मार्ग में न आऊँ। तुम्हारी जय हो, तुम्हारी इच्छा की जय हो।"

दूसरी प्रकार की भावना ऐसी है—जैसे माँ से छोटा बालक दावा करता है। ठीक उसी प्रकार अपने हृदय में उन्हें अपना मानकर रामप्रसाद और परमहंस की न्याईं प्यार से दिल खोलकर उन्हें सर्वदा सब कुछ कहना और वाञ्छित वस्तुओं के लिये उनसे प्रार्थना करना—इस भावना से सभी कुछ कहा जा सकता है। अपने लिये कुछ भी पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में ऐसा अटूट विश्वास रहता है कि मैं माँ की गोद का बालक हूँ, रोना ही मेरा एकमात्र अवलम्बन है। मेरे लिये जो कुछ भी आवश्यक होगा—गगन का चन्द्रमा, दर्पण का प्रतिबिम्ब, माता का दूध-जब भी जो कुछ अपेक्षित होगा—सभी माँ से याचना करनी पड़ेगी और माँ अवश्य ही मुझे देगी। नहीं, वह देने के लिये बाध्य होगी और यदि वह न देगी तो छोड़ूंगा ही क्यों? "इस

प्रकार के साधकों में पुत्र-भावना एवं आश्रित की भावना का 'अहं' रहता है और इसी 'अहं' के बल से वे मुक्त हो जाते हैं। इस 'अहं' का अर्थ है—विश्वास और सरलता, परन्तु ऐसा केवल मुँह से कहने से बात नहीं बनेगी तथापि पुनः-पुनः कहने से विश्वास उत्पन्न हो ही जाता है। अन्यान्य साधक जो अहं-विशिष्ट हैं, उन्हें शरीर और मन को स्वस्थ रखकर साधन के मार्ग से विघ्नों को हटाते हुए साधन में अग्रसर होना पड़ता है और जो व्यक्ति अपनी स्थिरता के बल से विघ्नों को हटा सकता है, वही अधिक उन्नत हो सकता है। Life is a series of struggles and only the fittest will survive अर्थात् जीवन संग्राममय है, केवल योग्यतम ही जीवित रह सकता है।

लक्ष्मण झूला
२५-९-१९१३

(अंग्रेजी पत्र का अनुवाद)

५३

ॐ

नारायणेषु !

अब तुम्हारी मानसिक धारणा के विषय में कहता हूँ। संशय तो पाप ही हैं। यह प्रायः एक अभिशाप की न्याईं ही है, विशेषतः अध्यात्म जीवन में तो है ही। तुम्हें अपने अनुभव में पूर्ण विश्वास होना चाहिये; और जब वह अनुभव वेदान्त-शास्त्र के साथ मिल जाये (क्योंकि वह प्रायः मिलता ही है) तुम्हारा मन किसी भी प्रकार से चलायमान होना नहीं चाहिये, किसी के कथन से या लेखनी से। वेद और उपनिषद द्वारा पुष्ट तुम्हारे अनुभव उस निरन्तर-सतत् वृद्धि-शील शक्ति सम्पन्न अग्नि की भाँति अनेक जन्मों के संस्कारों को ध्वंस करने के लिये क्रियाशील होने चाहिये। जो कुछ तुम समाहित स्थिति में सीखते हो, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखने को मैं तुम्हें बारम्बार कहता हूं।

मायाकी शृङ्खला में बद्ध मनुष्य जबतक, अपवित्र रहता है तबतक उसके सामने बहुतत्व ही भासता है। जबतक मनुष्य अपने देह में आसक्त है, तबतक उसके सामने आकृतियाँ सत्य ही भासतीं हैं। किन्तु जितना ही वह पवित्र बनता जाता है और जितना ही देहभाव से मुक्त होता है, उतना ही दृश्यमान

आकृतियों की (रूप के) सत्यता पर उसका सन्देह अधिक होता जाता है; और जब उसका मन सम्पूर्ण पवित्र बन जाता है तब केवल एकत्व ही रह जाता है।

स्वर्गाश्रम
१८ फरवरी १९२०

५४

ॐ

नारायणेषु !

एक Guiding Principle अर्थात् पथ-निर्देशक सिद्धान्त का निश्चय करके यदि उसके प्रकाश से समग्र जीवन को नियन्त्रित करने की चेष्टा करोगे तो ही जीवनयात्रा अनायास सम्पन्न हो सकेगी। दो नावों पर पैर रखना ठीक नहीं है। किसी समय महानियति पर निर्भर करता हूँ, फिर कभी अपने पुरुषार्थ पर—इससे कोई भी भावना दृढ़ नहीं होती। एक भाव को सुप्रतिष्ठित करने के लिये सर्वदा हृदय में उसको स्थिर रखने का प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकार की चेष्टा करना कष्ट-साध्य है, सो, मैं जानता हूँ और कष्ट साध्य होने से ही साधारण लोगों के लिये दुःसाध्य भी है परन्तु दुःसाध्य को साध्य बनाना ही साधक का कार्य है। दूसरे के लिये जो

असम्भव हैं, साधक के लिये वही अनायास साध्य होता है। कामनी-कांचन को परित्याग करना संसारी लोगों के लिये आसाध्य होता है, परन्तु साधक उन्हें वमन की न्याईं अनायास परित्याग कर देगा। आरम्भ में असुविधा हो सकती है, परन्तु लक्ष्य प्राप्ति के लिये सर्व प्रकार की असुविधायें सहन करने को तैयार रहना पड़ेगा। क्रमशः असुविधायें घटती जायेंगी। यदि इस मार्ग से भी चलना कठिन प्रतीत हो, तो एक दूसरा मार्ग भी है। जैसे दो भाई बीच में पत्थर रखकर पितृ-गृह का विभाजन कर लेते हैं, उसी प्रकार अपनी आवश्यकताओं के दो भाग कर लो,—इतने के लिये भगवान पर निर्भर करूँगा और इतने के लिये अपने पर। या ऐसा भी हो सकता है कि तुम तो भगवान् पर समस्त जमीदारीका भार अर्पण करना ठीक समझते हो, परन्तु परिवार के अनुरोध से ऐसा नहीं कर सकते, तो ऐसी स्थिति में किञ्चित् भार भगवान् पर छोड़ो और शेष अपने पर रखो। परन्तु जब भी अवसर मिसे (परिवार की अनुपस्थिति में) भगवान् से कहो, 'हे भगवन्! सब सत्ता तुम पर ही छोड़नी चाहिये; परन्तु मुझसे नहीं होता। उचित न होने पर भी कर्तृत्व भावना का पोषण करता हूँ। तुम मुझे सहायता दो, तुम बलपूर्वक समस्त भार ले लो। जिससे मेरा कल्याण हो, वही करो। इस दुर्बल पराधीन जीव पर कृपा करो।' इस प्रकार की भावना से भी तुम्हें इष्ट की प्राप्ति होगी। सम्भवतः तुम इसी मार्ग को सुगम समझोगे। यदि इस भावना का आश्रय लोगे तो उसमें मुझे आपत्ति नहीं होगी।

श्रीवृन्दावन धाम।
९-४-१९२० ई०

(अंग्रेजी पत्र का अनुवाद)

५५

ॐ

नारायणेषु ।

तुम्हारा पत्र यथा-समय मिला । तुम्हारे वर्त्तमान शारीरिक एवं मानसिक कष्ट तुम्हें निराश न करके प्रत्युत तुम्हें प्रोत्साहित करें । क्योंकि जब किसी साधक ने आध्यात्मिक स्थिति में कुछ विशेष उन्नति की है, तभी इस प्रकार के कष्ट प्रायः एक साधक के जीवन में अनुभूत होते हैं। इस विषय में कुछ भी संशय नहीं होना चाहिये कि साधक के जीवन में कष्ट का अनुभव कुछ आश्चर्य-सा प्रतीत होता है। तुम पूछ सकते हो कि जब एक साधक उच्चतम शान्ति की ओर बढ़ रहा है तब प्रगति के प्रत्येक पद पर उसका सुख बढ़ना ही चाहिये एवं कुछ परिमाण में उसको दुःख की निवृत्ति भी होनी ही चाहिये । ऐसा न होकर आध्यात्मिक उन्नति के साथ इस प्रकार की महान कष्टदायक स्थिति क्यों होती है? क्या जगन्माता हमारी उन्नति को पसन्द नहीं करती और हमारी प्रगति रोकने के लिये बाधाएँ खड़ी करती हैं ? क्या वे नहीं समझती कि विघ्नों का सामना करने में हमें बहुत ही कष्ट अनुभव होता ? इस प्रकार के अन्य बहुत से प्रश्न तुम्हारे मनमें उठ सकते हैं, किन्तु मुझे निश्चय है कि यदि तुम कुछ समय शान्ति से बैठ जाओ और इस विषय में विचार करो तो तुम

स्वयं ही इन सभी प्रश्नों के उत्तर दे सकोगे। जगन्माता, तुम्हारे लिये क्या कल्याणकारी है—इसे जानती हैं और तुम्हारे लिये जो हितकारी है, वही करती भी हैं। ऐसा वे कुछ भी नहीं कर सकतीं जो तुम्हें हानि पहुँचाए। इसके अतिरिक्त एक और बात है; जो परिस्थितियाँ तुम्हें प्रतिकूल जान पड़ती हैं, वे यथार्थतः अहितकारी नहीं है क्योंकि वे तुम्हारी शक्ति को पुष्ट करने में सहायता देती है। तुम्हें पूर्णता की ओर परिचालित करती है। कभी-कभी हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम स्वस्थ हैं किन्तु एक निपुण डाक्टर जो जानता है कि हमारी देह में किसी रोग के कीटाणु हैं, कृपा पूर्वक हमें ऐसी औषधि देता है जिससे हमारे गुप्त शत्रु-कीटाणु बाहर निकल जाते हैं। चाहे, इस कारण हमें कुछ दिन शय्या-शायी भी रहना पड़े, तो भी डाक्टर तो धन्यवाद का पात्र है ही, क्यों कि उसकी चिकित्सा हमारे देह की सम्पूर्ण तथा स्थायी निरामयता या अरोग्य के लिये ही है। अतः जगन्माता पर विश्वास रखो और उनके विधान पर भी। वे तो प्रेममयी और ज्ञानमयी हैं, तुम्हारे-हमारे सहित यह संसार रूपी बगीचा उनकी ही सृष्टि है। वे इस संसार पर स्नेह रखती हैं और इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं रहने दे सकती। यदि तुम्हें कुछ भी सचमुच में आवश्यकता हो तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह आवश्यकता समय पर पूरी न हो! इसलिये तुम्हें विषादग्रस्त एवं निराश नहीं होना चाहिये। भगवान की प्रतिज्ञा को स्मरण करो—'न मे भक्तः प्रणश्यति' (मेरे भक्त का नाश नहीं होता) क्या यह तनिक भी शोचनीय है कि माता तुम्हें तीन महीने तक मन्त्र का जप करने का आदेश देकर अब उस परिश्रम के फल-प्राप्ति के समय तुम्हें असमर्थ बना देंगी? क्या यह तर्कसंगत है कि वे तुम्हें अध्यात्म-

जगत् में प्रवेश करवाने के पश्चात् तुम्हें हैरान करने में मजा लेंगो ? तुम कृतघ्न मत बनो। उनकी पूर्वकृत कृपा का स्मरण करो और उन्हें आत्मसमर्पण कर दो। उनके विधान को जानने में हम असमर्थ हैं। प्रायः ऐसा होता है कि कभी किसी एक क्षण में हम सोचते हैं कि हम सदा के लिये नष्ट हो गये, परन्तु अगले ही क्षण में ऐसा अनुभव करते हैं कि सदा के लिये हमारी रक्षा हो गई। अतः जिन कष्टों पर तुम्हारा कुछ भी नियन्त्रण नहीं चलता हैं, उनके विषय में चिन्तातुर न होकर, तुम्हें अपनी शक्ति को माता के नाम-जप एवं उनके चिन्तन में जितना अधिक सम्भव हो लगाना चाहिये। ऊपर फेंका हुआ एक पत्थर आकाश में अधिक समय नहीं रह सकता है। ऐसे ही जो कठिनाई तुम्हें अभिभूत कर रहीं है, वे अधिक समय तुम्हें कष्ट नहीं पहुँचा सकती। तुम अपने साधन में लगे रहो तो तुम देखोगे कि तुम्हारी ओर से किसी प्रकार के प्रयास किये बिना ही समस्त विघ्न क्रमशः हट जायेंगे। एक धोबी अपने गधे पर इतना बोझा नहीं लादता जिससे उसकी पीठ टूट जाय। मैं विश्वास नहीं कर सकता हूँ, कि वे कष्ट तुम्हारी सहन शक्ति के बाहर हैं। अपनी शक्ति पर भरोसा रखो, एक साहसी योद्धा की भाँति दृढ़ता से खड़े हो जाओ और तुम शीघ्र ही देखोगे कि शत्रु के पक्ष की अपेक्षा तुम्हारी शक्ति बहुत अधिक है। भागो नहीं, हताश मत होवो और अपने भविष्य के विषय में निराशापूर्ण भावना न रखो। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल सुखमय एवं शान्तिपूर्ण है। अपने आत्मबल को सदा बढ़ाते रहो और पूर्ण शक्ति से कार्यशील बने रहो। जगन्माता अवश्य ही तुम्हें सफलता प्रदान करेंगी। शिवमस्तु।

बनारस शहर, १६-५-२० ई०।

५६

ॐ

नारायणेषु,

.....को जो कुछ लिखा था उसमें सभी बातें हर किसी के लिए उपयोगी नहीं हैं। 'साधनकाल में उपदेष्टा ही एकमात्र साथी है'। इस प्रसंग में बहुत कुछ कहा जा सकता है। आपके लिए सभी आवश्यक न होने से साधारणतया दो-चार बातें संक्षेप से कहता हूँ।

उपदेष्टा आपको तथा आपके साधन को जानते हैं और आपका आध्यात्मिक कल्याण भी चाहते हैं, इसलिए उनसे आपकी कुछ भी हानि नहीं हो सकती। प्रत्युत साधन के अन्धा-धुन्द मार्ग में उनकी सहायता आवश्यक है। अतः वे ही आपके योग्यतम साथी हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

अन्यान्य व्यक्तियोंके दो दल हैं। एक दलके साथ आपका साँसारिक संबन्ध है, जैसे आत्मीय कुटुम्ब, शत्रु, मित्र, सहकर्मी, नौकर, मुनीम व मालिक प्रभृति के साथ, दूसरा दल वह हैं जो—आपकी आध्यात्मिक उन्नति चाहता है। प्रथम दलके लोग आपको धर्मनिष्ठ देखना नहीं चाहते, किन्तु अपना स्वार्थ ही चाहते हैं। वे इच्छा अनइच्छा से, समझकर या न समझकर बहुत बार आपके साधन में विघ्न तथा चित्तविक्षेप उत्पन्न करते हैं। दूसरा दल किसी समय धर्म में आपको उत्साहित करते हुए

भी अज्ञानवश आपको गन्तव्य मार्ग से भ्रष्ट भी कर सकते हैं। क्योंकि एक तो वे आपकी साधन प्रणाली तथा साधनमार्ग से परिचित नहीं हैं और दूसरे साधारणतया अभिमानी मानव स्वयं जिस मार्ग को पसन्द करते हैं उसीपर सभी को चलाना चाहते हैं। अतः यदि कोई व्यक्ति युक्ति या तर्क से आपको किसी कार्य की उपकारिता के विषय में आपको समझा सके तो संभवतः आप उसी कार्य में प्रवृत्त भी हो जाएं, परन्तु हो सकता है कि वह कर्म आपके लिए अनुकूल न हो। युक्ति से ही किसी ऐसी समस्या का कुछ भी समाधान नहीं होता। आज जो मुझे ठगता है, कल वह दूसरे से ठगा जा सकता है प्रायः। किसी मार्ग के अवलम्बन से किसी व्यक्ति को उन्नत हुआ देखकर दुर्बल मानव प्रायः अपना पुरातन मार्ग छोड़कर उसी मार्ग का आश्रय ले लेते हैं। बहुत से लोग इस प्रकार साधन भ्रष्ट होकर पतित हो जाते हैं। क्योंकि सभी मार्ग सबके लिए अनुकूल नहीं होते। दूसरी बात यह है कि मानलो आप श्रीकृष्ण भक्त हैं, आपने मुझसे कभी शिवजी का गीत तथा शिवजी की महिमा सुन ली, कभी शिवजी की मूर्त्ति देखली एवं उनके विषय में तात्विक व्याख्या सुनली, उससे आपके साधनकाल में इच्छा न होने पर भी आपके मनमें शिवजी विषयक भावना जागृत हो सकती है। इस विषय में और भी बहुत सी बातें हैं पर यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

आपने पत्र में भक्ति का प्रसंग उठाया है। भक्ति का क्या अभिप्राय है? मैं वैसी भक्ति नहीं चाहता—जिससे साम्प्रदायिकता बढ़े, जिसके आवेश से एक मुहूर्त में अश्रुधारा से हृदय द्रवित कर, दूसरे ही मुहूर्त में प्रवञ्चना तथा कुकर्म होने लगे। जिससे एक मूर्ति की पूजा तथा दूसरी मूर्तियों से विद्वेष

किया जाय। जो केवल एक मूर्ति में ही सीमाबद्ध हो और जिससे मन उदार, सरल एवं विश्वप्रेमी न हो। मैं चाहता हूं उस पराभक्ति को जो समस्त ब्रह्माण्ड को आलिंगन तथा प्लावित करके विश्वमाता के चरणकमलों को प्रक्षालित करेगी, जिससे हरि और हर, काली और कृष्ण समभाव से पूजित होंगे, जिसकी शक्ति से शक्तिवान होकर मैं सब मलिनता, अपवित्रता एवं संकीर्णता का परित्याग करके शान्तिमय बन सकूंगा, जिसकी कृपा से मैं सभी के सम्मुख प्रत्येक क्षुद्रातिक्षुद्र जीव के सम्मुख भी भगवत बुद्धि से प्रणत हो सकूँगा और जिसकी शक्ति से प्रत्येक जड़ परमाणु भी भगवत्भाव को उद्दीप्त कर मेरे साथ हंसेगा, खेलेगा तथा आनन्द मनावेगा।

पहिले कर्म तथा आनुष्ठानिक भक्ति, तत्पश्चात ज्ञान और अन्त में पराभक्ति अथवा प्रेम क्रमशः होते हैं। मैं प्रेम गंगा में तैरना चाहता हूँ। आनुष्ठानिक भक्ति में बद्ध रहने को तैयार नहीं हूँ, क्या चिरकाल पर्यन्त 'क, ख ही पढ़ना पड़ेगा। मैं छतपर चढ़ना चाहता हूँ, सीढ़ियोंपर रुकना पसन्द नहीं करता। जो सोचता है कि मैं उतना आगे नहीं बढ़ सकूंगा, वह चेष्टा भी नहीं करता और न कर्त्तव्य कर्म ही करता है। किन्तु जो सोचता है–मैं कर्त्तव्य कर्म क्यों न करूँगा, वह प्रयत्न भी करता है। और उसे भगवान की सहायता भी मिलती है। पूज्यनीय .....से सुन सकते हैं—पूज्यपाद जगदीश बाबा ने साठ वर्ष की आयु में साधना प्रारम्भ करके भी सिद्धि प्राप्त की थी। कुम्भ मेला में ध्यानपूर्वक देखकर पता लगेगा कि कितने ही व्यक्तियों ने वृद्धावस्था में गृहत्याग किया है, मैं आपको गृह त्याग करने को कदापि नहीं कहता किन्तु आप असमर्थ हैं" आपसे तो मैं केवल इस प्रकार की भावना करने को मना

करता हूँ। भगवान क्या सर्वशक्तिमान नहीं हैं? "पंगुं लंघयतेगिरिम्" क्या यह वचन वाग्विलास मात्र है? क्या आप पर कृपा करने में वे असमर्थ हैं? ऐसा कहने वाले अविश्वासी नास्तिक का तो संग भी त्याज्य है।

सम्भव है आपके लिए तीव्रवैराग्य तथा सन्यास अनुकूल न रहे। आपके लिए शव-साधना की व्यवस्था ही ठीक है। शव-साधना में शव के ऊपर बैठकर साधन किया जाता है। शव जब मुँह खोलता है, तब उत्तर-साधक उसे खाना देता है, न देने से विघ्न उत्पन्न हो जाता है (उत्तर साधकः—तन्त्र साधना में जो सहायक होता है)। आपका शरीर भी एक शव-मात्र है। ऐसी व्यवस्था कीजियेः—आप एकान्त में रहें, एक व्यक्ति उत्तर-साधक की न्याईं भोजन और औषधि इत्यादि देता रहेगा और आप यथासम्भव निश्चिन्त रहकर 'माँ' का नाम लेते रहिये। समय बहुत अल्प है, किन्तु कार्य बहुत। यदि साधन की इच्छा जागृत हुई है तो पूरी शक्ति लगाकर प्रारम्भ कीजिए।

पेनसेन को कितना विलम्ब है? आपकी आयु तो बहुत हो गई है! भैंसे के गले की घंटी की बात क्या स्मरण नहीं है? कब क्या होगा—कौन जानता है? समय नष्ट नहीं करना चाहिये। आपने लिखा है कि मन साधन में नहीं लगता। क्या कभी नियम से प्रार्थना और चिन्तन करके देखा है? प्रार्थना के बल से ऐसी कौन सी बात है, जो न हो सके। यदि हो सके तो थोड़ी तीर्थ-यात्रा कीजिये। जितना हो सके नामोच्चारण करना। आज इतना ही।

कर्णवास।

*

५७

ॐ

नारायणेषु !

पत्र मिला। तुमने लिखा है कि तुम पूर्णतया मुझपर निर्भर हो। इस बात को मैं गले के नीचे नहीं उतार सका। 'पूर्णतया' तो दूर की बात है, यदि ठीक-ठीक निर्भरता होती तो क्या इस प्रकार की चञ्चलता रहती ? यदि निर्भर करते हो, तो वासना की उद्दाम तरंग क्यों उछाल मारती है ? 'गृहस्थी रहूँगा या बनवासी हूँगा'—आपके सान्निध्य में ही रहूँगा या अमुक स्थान में रहना पड़ेगा; विद्याभ्यास करूँगा या सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करूँगा'—ये सब संकल्प तुम्हें क्यों विक्षिप्त करते हैं ? यदि निर्भरता ही रहती तो तुम्हारे मन में यह भावना होती कि तुम्हारे मंगल के लिये जब, जो कुछ आवश्यक होगा, मैं ही, उस समय, तुम्हें कह दूंगा। तुम्हें जिस समय, जहाँ, जैसे रहना उचित होगा, तब मैं ही वैसे रहने का आदेश दूंगा। 'इस प्रकार से जीवन अवश्य व्यतीत करूँगा'; 'आपके सान्निध्य में अवश्य रहूँगा'—इस प्रकार वासना के वशीभूत होकर कर्म करना चाहते हो—तुम्हारी वासना के अनुकूल कार्य का मैं समर्थन करूँ इसलिये मुझसे अनुरोध करते हो, यह किस ढंग की निर्भरता है ? किसी समय एक साधु अपनी कुटी बनवाने के कार्य में व्यस्त थे। उस समय

उन्होंने भगवान पर ही निर्भर होने का संकल्प प्रकट किया। तब किसी व्यक्ति ने कहा—'तो अब कुटिया बनवाने की चेष्टा क्यों करते हैं ? इस मुहूर्त्त में भगवान को आत्म समर्पण करके निश्चिन्त मन से बैठ जाइये। आवश्यक होगी तो भगवान ही कुटी की व्यवस्था कर देंगे।' साधु ने कहा "सो नहीं हो सकता। पहले घर बना लूं, आहारादिक की सुव्यवस्था कर लूं, तत्पश्चात् निश्चिन्त होकर भगवान पर निर्भर करके बैठा रहूँगा।" इस साधु के मन में भय था कि अभी निर्भरशील होने से कदाचित् घर न बने और भगवान् आहारादिक की सुव्यवस्था न करें तो, पहले वासना के अनुकूल सब काम समाप्त कर लूं, पश्चात् जब ठगे जाने की, नुकसान उठाने की सम्भावना नहीं रहेगी, तब यदि हो सके तो निर्भर होना ठीक रहेगा। और फिर आवश्यक होने पर निर्भरता के विषय में बड़ी बातें भी कह सकूंगा। नहीं, तो क्या जाने, अपने मन के अनुकूल व्यवस्था न हो। 'भगवान क्या करेंगे—क्या विश्वास है ? 'तुम्हारी निर्भरता कुछ अंश में क्या ठीक इसी कोटि की नहीं है ? यदि निर्भर करना चाहते हो, तो शान्त मन से उपदिष्ट कर्म का अनुष्ठान करते रहना। क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है—इसके निराकरण, का भार अपने पर मत रखना। अपने शरीर और मनकी अवस्था के विषय में प्रयोजन के अनुसार सूचित करते रहना तथा जहाँ जिस तरह रहने का आदेश मिले, वहाँ उसी तरह रहकर प्रशान्त चित्त से कर्त्तव्य-सम्पादनके लिये प्रयत्न करना। यदि इस प्रकार न चल सको तो तुम्हारी निर्भरताका मूल्य तुच्छ है। बहुत से लोग पूर्ण निर्भरता के नाम से डरते हैं क्योंकि उन्हें भय है कि जो 'हम नहीं चाहते वह हो जाए तो !" तुम जिसपर निर्भर करते हो, उसकी बुद्धि

पर तुम्हें पूर्ण आस्था नहीं है ! मानो, अपना कल्याण तुम उनसे भी अधिक समझते हो ! 'भट्टाचार्य महाशय ! आज हो कलकत्ता जाऊँगा ! यात्रा का दिन निश्चित कर दीजिये'—यह जिस ढंग का अनुरोध है, वैसा ही निर्भरता के बहाने से तुम्हारा भी अनुरोध है।

अस्तु। और अधिक लिख कर तुम्हें खिन्न नहीं करूँगा। एक तो तुम्हारा मन पहले से ही उद्वेलित है, उस पर यह पत्र उसे और भी आन्दोलित करेगा। यह सब बातें तुम्हें कटु लग सकती हैं। तथापि क्या करूँ ? यदि तुम निर्भरता की बातें न लिखते तो मैं इतनी बातें नहीं लिखता; सम्भवतः इस पत्र का ढंग दूसरी प्रकार का हो जाता और वह सम्भवतः तुम्हें प्रसन्न ही करता।

यह तो लिखा तुम्हारी निर्भरता के प्रसंग में। अब इस विषय में मुझे दो-एक बातें कहनी हैं—किसी का भार उठाने की मुझ में सामर्थ्य नहीं है। मुझ पर निर्भर करने से क्या होगा ? यदि निर्भर करना ही चाहते हो तो सर्वकल्याणमय—एवं सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानमय भगवान् पर ही निर्भर करो—यदि ऐसा कर सकोगे तो जीवन धन्य होगा। शान्ति-लाभ करने में समर्थ होंगे और तुम्हारे जीवन का ध्येय सिद्ध होगा।

श्रीकाशी धाम।
२० वैशाख १३२६ बंगाब्द

५८

ॐ

नारायणेषु !

मैं तुम्हें कष्ट उठाकर और स्वास्थ्य को नष्टकर उपवास करने को नहीं कहता हूँ। कुछ कष्ट तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उपवास के कारण असुविधा मालूम होने से मन, शरीर और खाने के विषय में ही लगा रहता है। उससे ईश्वर चिन्तन नहीं होता। परन्तु उपवास का प्रधान उद्देश्य होता है ईश्वर-चिन्तन। भगवत् सान्निध्य में रहना या भगवान में मन को लगाये रखने का नाम ही उपवास है। अल्पाहार तथा अनाहार से उसमें सहायता मिलती है, इसलिये अल्पाहार या अनाहार को उपवास कहा जाता है। किन्तु वास्तव में आहार न लेने से ही उपवास नहीं होता; भगवच्चिन्तन से ही उपवास होता है। जिस प्रकार के आहार की व्यवस्था करने से भगवच्चिन्तन के लिये अधिक से अधिक सुयोग मिल सके, उसी प्रकार व्यवस्था ही कर लेना। उस प्रकार आहार के साथ यथा सम्भव तपस्या करने ने ही उपवास का फल मिल जायेगा।

सच्चा धर्म अनुष्ठान में नहीं किन्तु मनमें ही है। बाह्य अनुष्ठान जबतक धर्मलाभ में मनको सहायता दे, तबतक ही करना चाहिये। शिवरात्रि, जन्माष्टमी प्रभृति, पर्व दिनों की कुछ विशेषता है। उन दिनों की तपस्या से कुछ अधिक फल

की प्राप्ति होती है। अमावस्या और पूर्णमासी में भी अधिक फल मिलता है। इसप्रकार और अनेक तिथियाँ और पर्व हैं, किन्तु ध्येय ऐसा होना चाहिये कि सभी दिनों में और सदा ही समभाव से भगवच्चिन्तन हो। उस प्रकार का अभ्यास अभी तुम्हारे लिये सम्भव नहीं होगा; तो भी अभी से प्रत्येक कर्म में एवं समय में उसके लिये व्यवस्था करनी पड़ेगी और उद्देश्य प्राप्ति के अनुकूल चेष्टा भी करनी पड़ेगी।

५६

ॐ

नारायणेषु।

आपने तपस्या के विषय में जो कुछ लिखा है उसका क्या उत्तर दूँ, प्रबल पुरुषार्थ की सहायता से विघ्नों को हटाने की चेष्टा करनी चाहिये। जिसका जितना अधिक विघ्न है, उसके लिये उतना अधिक प्रयत्न तथा अधिक पुरुषार्थ की आवश्यक है। विवेक और वैराग्य को बढ़ाने के लिये पुरुषार्थ कीजिये। पुरुषार्थ बिना सिद्धि-प्राप्ति कैसी? पुरुषार्थ को बढ़ाने के लिये एवं पुरुषार्थ प्रयोग के लिये भी प्रयत्न आवश्यक है। प्रयत्न करने से उसका फल अवश्य मिलता है। साँसारिक सब

कर्मों के लिये कितना उत्साह कितना यत्न, कितने पुरुषार्थ का आश्रय ले रहे हैं किन्तु केवल तपस्या के लिये ही पुरुषार्थ का अभाव है ? पुरुषार्थ तो अपने अन्दर (अन्तःकरण में) ही है; यदि वह न होता तो दूसरे कर्मों के लिये चेष्टा कहाँ से आती ? क्या दूसरे कर्मों के लिये आप दूसरे पर निर्भर करते हैं ? इसलिये कहता हूँ जो पुरुषार्थ अन्दर है उसे थोड़ा कष्ट उठाकर तपस्या में लगा दीजिये। थोड़ा बलपूर्वक ही वैराग्य प्राप्ति के लिये यत्न कीजिये न ? बिना विषय-त्याग के मन में बल उत्पन्न नहीं होता और आध्यात्मिक उन्नति भी चिरस्थायी नहीं होती। बहुत समय मन के न चाहने पर भी बलपूर्वक विषय का त्याग करना पड़ता है। बलपूर्वक त्याग करने से जो कष्ट होता है, पीछे वह नहीं रहता। दूसरे विषयों की न्याईं इस ओर भी मन की शक्ति को थोड़ा लगाईये। बालकों से भी आपकी शक्ति अल्प है क्या यह विश्वास योग्य है ? प्रयत्न कीजिये, सामर्थ्यपूर्ण पुरुषार्थ कीजिये, अभी भी पुरुषार्थ के लिये समय है। कितने ही सुयोग गँवाये हैं और अधिक मत गँवाईये। श्रीभगवान ने कहा है—"आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु !" अपने पर ही शत्रुता स्वयं न करना। सोचिये, विचारिये एवं कर्म में लग जाईये। संसारी लोगों से अपनी बुद्धि के लिये ख्याति की इच्छा नहीं रखना। जिस बुद्धि से आध्यात्मिक मार्गपर चल सको और जिस बुद्धि से भगवान की प्राप्ति हो सके, वही बुद्धि सच्ची बुद्धि है, दूसरी बुद्धि तो दुर्बुद्धिमात्र है। शिवमस्तु। इति

जुनगा शिमला पहाड़
२५-६-२१

६०

ॐ

नारायणेषु,

तुम बी. ए. परीक्षा में उत्तीर्ण तो हुए परन्तु यदि बी. ए. की उपाधि की मर्यादा की रक्षा करना चाहो तो अबतक जितनी पुस्तकें पढ़ चुके हो, एवं जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, अब उससे भी अधिक पुस्तकें पढ़ना और बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त करना होगा। तुम इस समय शिक्षक का भारी दायित्व लेने को तैयार हुए हो। तुम्हारा ज्ञान और चरित्र-बल जितने अधिक बढ़ेंगे उतना ही तुमसे अध्यापक का पवित्र कर्त्तव्य भली-भाँति निभेगा। अब तुम विद्यार्थी जीवन समाप्त करके सांसारिक जीवन में प्रवेश करने को तैयार हो। ध्यान रखना, जिससे तुम्हारा चरित्र और व्यवहार ऐसा हो कि वर्त्तमान और भविष्य जगत् तुम्हारा अनुसरण करके उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ सके अथवा इस प्रकार की गौरवसूचक भावना यदि तुम्हारे हृदय में जागृत न हो तो इतना सामान्य ध्यान अवश्य रखना जिससे पवित्र ब्राह्मण वंश का गौरव तुमसे नष्ट न हो एवं तुम्हारे कर्म तथा भाव द्वारा जगत् किसी भी प्रकार से क्षतिग्रस्त न हो। रोते हुए पृथ्वी पर आए हो; ध्यान रखना जिससे हँसते हुए इस संसार को छोड़कर जा सको। काम बहुत हैं, किन्तु समय अल्प है। धैर्य और अध्यवसाय; विचार एवं सतर्कता सहित चलना होगा।

योग्य दान ही सञ्चय हैं, किन्तु दान किसे कहा जाता है और योग्य दान क्या है इस विषय में सर्वदा स्मरण रहता है न ? कृपणता को कम करने के लिये—दान एक श्रेष्ठ उपाय है—इसमें कुछ भी संशय नहीं हैं। शास्त्रों में कहा है—दानरूप सेतु द्वारा अदान या कृपणतारूपी नदी के पार जाना होता हैं। शान्ति-धाम जाने के मार्ग में चार नदियाँ अर्थात् चार विघ्न विद्यमान हैं, उनमें से 'कृपणता' एक है।

साधारणतः सभी लोग अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। अनेक व्यक्ति अपने आत्मीय कुटुम्बों को धन देते हैं परन्तु इसे 'दान' नहीं कहा जाता, वह सब अदान कोटि में ही गिना जाता है।

अन्यान्य अनेक सत्कर्मों की भाँति दान भी सावधानी से करना पड़ता है। विधिपूर्वक दान न करने से अपनी और दूसरों की हानि भी हो सकती है, परन्तु दान कभी-कभी हानि का कारण बनने पर भी त्याज्य नहीं हैं। चलने पर गिर जाने की सम्भावना रहने पर भी जैसे चलना बन्द नहीं किया जाता, उसी प्रकार दान भी बन्द नहीं करना चाहिये; प्रत्युत उसे योग्य उपाय से करने की चेष्टा करनी चाहिये। कृपणता धर्म-मार्ग में एक महान् विघ्न है, इस बात का सर्वदा ध्यान रखने पर बहुत कुछ लाभ होता हैं। मनुष्य स्वभाव से ही दुर्बल है, इसलिये वह सतर्क नहीं रहता। तभी पतन की सम्भावना रहती है।

६१

ॐ

नारायणेषु !

पत्र मिला ! × × क्यों झगड़ा करते हो ? सहन करने में क्या हानि है ? संसार में हम कितने प्रकार के पशु हैं—यथा पापी और पुण्यवान, कृपण और दानी, अहंकारी और विनयी, मूर्ख और पण्डित, नीच और उदार, दानव, मानव, देवता, जड़ और चेतन और भी न जाने कितने कुछ ! इन सब प्रकार की सन्तान के साथ विश्वजननी धैर्य के साथ, मौन होकर, शान्तिसे दिन और रात, बारह महीने, अनन्तकाल से संसाररूप गृह-कार्य कर रही हैं, किन्तु हम उनकी योग्य सन्तान परस्पर में कैसे व्यवहार कर रहे हैं। हमारे मूल्यवान तथा युक्तियुक्त मत के साथ जिसका थोड़ा सा भी मतभेद होता है, तो चाहें वह सत्कार्य भी करे, तो भी हमारे आग्नेय नेत्रों से उसपर असंख्य चिन्गारियों की वर्षा होती रहती है। हम जो अन्याय कर्म करते हैं—नहीं, स्वयं जानबूझ कर भी जो अनीति करते हैं, उसके लिये समान मात्रा में विश्वमाता से क्या हम कृपा पाने का साहस रखते हैं ?

मंगलमयी माँ जब जो कुछ करतीं हैं, सभी मंगलके लिये ही करतीं हैं। जबतक उनके कीर्तन (नाम-स्मरण) में सहयोग देना ही है, तबतक इस प्रकार की भावना रखकर

उसीमें जगन्माता के प्रेममय हाथ को देखने की चेष्टा कीजिये न ! धैर्य के साथ अपनी मानसिक समता की रक्षा में ध्यान दीजिये न ! 'जगन्माता' हमारी धैर्य की परीक्षा ले रहीं हैं; इन सब विघ्नों के होते हुए भी हम माँ को स्मरण कर सकते हैं या नहीं; उसी की परीक्षा के लिये सुयोग दे रहीं हैं; और यदि हम विघ्न-बाधाओं में उन्हें स्मरण न कर सकें तो उसके लिये तैयार होने को जगन्माता संकेत भी करती रहतीं हैं। यदि वे विघ्न ही माँ को भुला दें तब मृत्यु की यातना तो बिल्कुल हीं उन्हें भुला देगी ? फिर उस समय क्या करूँगा ?' इस प्रकार की भावना रखने में क्या हानि है ?

अच्छा ! आप तो भगवत्-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं; किन्तु रोग-शोक को न चाहना, व्याघ्रादिक जीवों से भय और आशंका तथा शत्रु से विद्वेष, इन सब मनोवृत्तियों के रहते हुए विश्वमूर्ति को या पूर्णब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर सकोगे ? श्रुति कहती है "(१) ईशावास्यमिदं सर्वम् (२) सर्वं खल्विदं ब्रह्म !"

स्वर्गाश्रम
दशमी

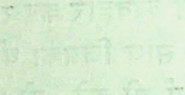

६२

ॐ

नारायणेषु !

तुमने अपने पत्र में अपनी मानसिक व्याधि के उपचार के विषय में जो पूछा है चाहे मैं इसके सिद्ध-उपाय बता भी दूं, फिर भी तुम्हें बहुत देर लग सकती है। एक घूमता हुआ बादल आखिर कबतक हजार-किरणों वाले सूर्य को ढक सकेगा ? तुम-सा धैर्यवान एवं पुरुषार्थी युवक जो विचारशील, सद्विवेकी तथा आत्मज्ञान और आत्मसंयम से युक्त है—कब-तक वह एक जादूगर की मोहिनी से मोहित होता रहेगा ? फिर यह तो जादू भी नहीं, जादू का स्पर्श-मात्र है जिसने तुम्हें अपने स्वभाव को भी भुला दिया है याद है तुम्हें, एक कहानी सुनाई थी—किसी प्रकार एक राजा ने एक बड़ी नुमाइश रचाई जिसमें अद्भुत वस्तुएं लोगों के आकर्षण के लिए रखी गईं—उसी चौघेरे में राजा ने अपने आप को छिपा लिया तथा घोषणा की कि रात्रि होने से पहले जो व्यक्ति उसे ढूँढ़ निकालेगा—वह राजा से राजगद्दी प्राप्त करेगा। किस तरह हजारों लोगों ने उस नुमाइश-मैदान में प्रवेश किया परन्तु कहीं न कहीं मुग्ध होकर अपने उद्देश्य को भूल गये; अन्त में एक दृढ़-प्रत्यज्ञ युवक सायंकाल में उस राजधानी में पहुँचा है और उसे भी राजकीय-घोषणा का पता चला, तो किस तरह वह

तत्क्षण एक तेज घोड़े पर सवार होकर मुख्य-द्वारपर पहुँचकर, राजा के, चित्र से राजा के स्वरूप का पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करके वह राजा की खोज में बड़ी सतर्कता से नुमाइश के भीतर उन सभी आकर्षणों को पीछे छोड़ते हुए तेजी से बढ़ता चला गया। बीच में एक जगह अपनी माता का शव देखकर वह शोक-संतप्त हो, रोने भी लगा परन्तु शीघ्र ही उसने जादूगर के मिथ्या-दृश्य को पहिचान लिया—और बड़े वेग से अपने घोड़े को दौड़ाया। थोड़ी देर में वह एक सुन्दर बगीचे में जा पहुँचा जिसके अन्दर एक भव्य-मन्दिर दिखाई दिया। मन्दिर के दरवाजे को धक्का लगाकर खोला तो क्या देखता है कि वहाँ गद्दी पर राजा विराजमान है। अचानक युवक के मन तथा शरीर में विचित्र शिथिलता आ जानेके बाद होश आनेपर उसने अपने आप को राजा के स्नेहपूर्ण-आलिंगन में पाया और राजगद्दी को प्राप्त कर लिया ···· ···· प्रियवर! निश्चय ही यह कहानी बाकी सब कहानियों का सार है तथा सब सत्यों का सत्य है। यह सिद्ध करती है हम सब अपने जीवन यात्रा में उस युवक की भाँति जादूगर की मिथ्या-परिस्थिति में पड़कर दुःखी होते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है—यह संसार, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसमें हम आसक्त हो गए हैं और जो प्रतीति मिथ्या भ्रान्तिमात्र है, उससे प्रभावित हो रहे हैं। जब कहीं किसी वस्तु से तुम आकर्षित होते हो वहाँ अस्ति, भाति, प्रिय और नाम एवं रूप को ही पाओगे। यहाँ अस्ति, भाति, प्रिय—सब वस्तुओं में एक ही है, किन्तु नाम और रूप के विषय में क्या होगा? नाम तो आकस्मिक है और बाहर से ही आता है। एक गुलाब के फूल को भिन्न-भिन्न नाम दिये जा सकते हैं, लोग देते भी हैं, इसीप्रकार तुमने एक वृक्ष देखा होगा जो प्रातः

मध्याह्न-सायंकाल में भिन्न-भिन्न रंग वाला प्रतीत होता है, और रूप का परिवर्तन भी होता ही है जबकि वस्तुका तत्त्व-रूप ज्यों का त्यों ही रहता है। विभिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं। वास्तव में रूप वस्तु का स्वभाव नहीं है, वह तो बाह्य है। जो कुछ वस्तु तुम देख रहे हो वहाँ एक समतापूर्ण अस्ति, भाति, प्रिय और नामरूप को ही देख पाओगे, नाम और रूप उसका स्वरूप नहीं है (क्योंकि यह पत्र बहुत लम्बा हो रहा है, मुझे संक्षेप करना चाहिए, यहाँ मैं समस्त विचारों को लिखित-रूप नहीं दे सकूँगा) .... आश्चर्य की बात है—नाम-रूप से ही किसी वस्तु का वस्तुत्व प्रतिपादित होता है, परन्तु यह नाम-रूप वस्तु से पूर्णतया-पृथक है। यदि हम एक वस्तु के नाम-रूप को हटालें—तो सोचो शेष क्या रह जाता है? इसी निरीक्षण को आगे बढ़ाया जाय तो अन्त में केवल एक ब्रह्म ही प्रकाशित होंगे—वही समरूप, ब्रह्म हमें अनेक नाम-रूप वाला, परिवर्तनशील दिखाई दे रहा है परन्तु ब्रह्म सर्वत्र वर्तमान होने से—भला नाम-रूप-आकार वाला कैसे हो सकता है। फिर हम परिवर्तनशील व आस्तित्व-हीन रूपों के अच्छे-बुरे का विचार करके सुख-दुःख का अनुभव क्यों करें। प्रियवर! ब्रह्म के चिन्तन में मग्न होकर अन्य सब चिन्ताओं को त्याग दो—यह ब्रह्मनिश्चित, सत्य, समरस, पवित्र स्थिर और अपरिवर्तन शील है। यदि रूप को सत्य भी मान लिया जाय, तो भी भगवान की सृष्टि इतनी हानि नहीं करती जितनी हमारे मन की। 'अहं' की सृष्टि से ही मेरा-तेरा, अच्छा,-बुरा, उचित-अनुचित जुड़ा हुआ है। बाह्य रूपका भिन्न-भिन्न लोगों के मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है जो व्यक्ति अपने अनुमान व कल्पना के आधार पर प्रतिबिम्ब बनाता है। प्रायः यह कल्पित-

रूप वास्तविक रूप में मिलता भी नहीं। तुम्हारा जन्मदाता परम-पिता तुम्हारे कल्पित रूप से कहीं ज्यादा सुन्दर, स्वस्थ व चेतन है। जबकि इस जड़जगत में मन जड़रूप है, मनकी चिन्ता भी कम जड़ नहीं—तो चिन्ता द्वारा दृष्टिगोचर विषय भी जड़रूप होना चाहिए। चिन्तन की गहनता के अनुसार वह रुप-आकार कम या ज्यादा स्पष्ट हो सकता हैं और वह रूप स्वप्न तथा जागृत अवस्था दोनों में दिखाई दे सकता है। .... मैं तुम्हें रामकृष्ण के विषय में (दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण-परमहंस नहीं—उत्तर बंगदेश नाहोर की रानी-रानी भवानी के दत्तक पुत्र, बताना चाहूँगा, जिसने रात्रिकाल में शमशान में एक शव पर बैठकर शव-साधना करने की इच्छा प्रगट की—उसकी माँ को यह अच्छा न लगा, पुत्र को उपदेश, अनुरोध एवं भय से ऐसा करने से रोकना चाहा परन्तु सब बेकार। एक रात को जब वह अपना मन्त्र-जापकर रहा था तो उसे भयानक रूप वाले सर्प, व्याघ्र एवं प्रेतात्मा दिखाई पड़े फिर भी वह टस से मस न हुआ क्योंकि वह जानता था कि यह सब मिथ्या हैं—अन्त में रानी भवानी अत्यन्त क्रोध में तलवार लिए हुए मानो उस साधक व उसके सहायक के टुकड़े-टुकड़े करने को आतुर खड़ी है—जिसे पुत्र ने सच्चा-रूप मान लिया और भय के कारण मन्त्र-जाप छूट गया और एक धक्के से दूर जा गिरा। यदि इसबार भी मिथ्या-रूप का उसे बोध रहता—तो उसी रात में सिद्धि प्राप्त हो जाती। वास्तव में असली माँ ने तो पूरी घटना में कुछ भी नहीं किया था—सभी रूप पुत्र की मानसिक-कल्पनाएँ मात्र थे। उसके हृदय में माँ के प्रति भय की भावना से ही यह सब उत्पन्न हुआ। .....इसी प्रकार जब हम तपस्या करते हैं, शनै-शनै हमारी अपवित्रता शुद्ध होती जाती हैं और

एक समय आता है जब अग्नि ज्वाला बुझने से पहले जैसे भभकती है, वैसे ही अपवित्रता की अवशेष चिन्गारी भयंकर-प्रकोप दिखाती है, मूर्तरूप धारण करके हमें परेशान कर देती है। उस समय यदि इसकी अवहेलना कर सकें तथा निर्विघ्न अपनी साधना में लगे रहें तो निसन्देह हमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है।—इस घटना से सिद्ध होता है किस प्रकार 'बुद्ध' के पास 'मार' आई थी और यीसु (क्राईस्ट) के सामने 'शैतान'। अब हम दूसरा पक्ष लेते हैं—मानलो कि तुम्हारे स्वप्न का चित्र सच्चा रूप है और वह वास्तव कष्टमय है, फिर भी तुम्हें क्यों दुःखी होना चाहिये। क्या तुम अपनी तपस्या को छोड़कर उस स्वप्न-रूप के दुःख व मृत्यु को टाल सकते हो? क्या तुम उसके सुख-साधनों को जुटाने में अपना तमाम जीवन बिता दोगे। अनेक जन्मों से अनेक जीवनों में हमने रूपों की सेवा की परन्तु फल क्या हुआ? हमारी सेवा न तो हमारे दुःख को, न अन्य रूपों के दुःख मिटा सकी बल्कि इसके ठीक-विपरीत इस सेवा द्वारा उस रूप में आसक्ति और स्थापित हो गई, इसप्रकार सम्बन्ध से लक्ष्य तक पहुंचने में विलम्ब होता है। किसी एक निष्ठ साधक के लिए इसप्रकार का विलम्ब मृत्यु से कम नहीं। इसलिये पुरुषार्थी बनो, मानवोचित कर्म करो। तुम्हें दुखी नहीं होना है कि तुम्हारे मन की ऐसी स्थिति हो गई है। यह सभी को अनुभव होता है। यीसु (क्राईस्ट) भी असफलता का शिकार हुए थे जब उन्होंने पुकारकर कहा था 'हे प्रभो! क्या तुमने मुझे छोड़ दिया है?'—अतः इसी कारण तुम्हें अपने को छोटा या दीन नहीं मानना चाहिये। बल्कि ऐसी स्थिति आने पर तुम्हारा उत्साह बढ़ना चाहिये क्योंकि चिर-स्थायी अन्तर्स्थिति होने के पूर्व ही ऐसी अवस्था होती है। कभी-कभी वह दशा

असह्य प्रतीत होने पर भी तुम्हें स्मरण रहे कि एक धोबी अधिक बोझ डालकर अपने गधे की पीठ को नहीं तोड़ता; ऐसे ही निरन्तर घर्षण से सख्त से सख्त पत्थर भी घिस जाता है। प्रसंगवश मैं तुम्हें कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक सद्भावना का कुछ सीमा तक तो उपयोग है, यह कुछ अन्य भावनाओं से तो श्रेष्ठ है परन्तु अन्तिम स्थिति (लक्ष्य) से तो वह सर्वथा तुच्छ और विरोधी भी है। एक शराबी जो पहले छःसेर मदिरा पीता था अब वह प्रतिदिन केवल दो सेर पीता है—यह निश्चय ही एक प्रकार की उन्नति है। परन्तु अत्युत्तम से बहुत कम है। महाभारत के अर्जुन का हृदय दयालु था, उसकी दया (कृपा) ही उसके मार्ग की बाधा बनी। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़, निस्सहाय होकर अपने प्रभु की शरण लेता है और तत्काल उसकी रक्षा व सहायता को भगवान आगे बढ़ते हैं। उस सारथी ने ही अपनी इच्छा से तुम्हारे रथ का भी भार ले लिया है—तुम्हारे भीतर क्षत्रिय हृदय, शौर्य-वीर्य भी है। अपने अन्दर भगवान की आवाज सुनो—

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

गीता अ० २। श्लोक ३॥

शिवमस्तु।

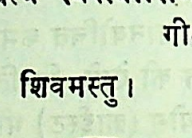

६३

ॐ

नारायणेषु,

आकाश को लपेट लेना जैसे असम्भव है, वैसे ही भगवान को जाने बिना दुःखनिवृत्ति असम्भव है।

साधन में अनुराग ही साधक को साधन मार्ग पर अग्रसर कर देता है। साधक जब मुक्ति के समीप पहुँचता है, तब उसे मुक्ति की इच्छा भी नहीं रहती।

हाँ! महापुरुषों को पहिचानने का उपाय अवश्य है, किन्तु वे उपाय समूह सदा सबके समक्ष प्रकाशित नहीं होते हैं!

× × ×

प्रत्येक कर्म में ही अभिप्राय पूछने की क्या आवश्यकता है, तुम्हारे अन्दर ही तो अन्तर्यामी विराजमान हैं। "ददामि बुद्धियोगं तम्" मैं उसे बुद्धियोग देता हूँ, यह प्रतिज्ञा-वाणी तो तुम सबके शरीर में ही रक्षित और प्रमाणित होगी। दृष्टि अन्तर्मुख रखने की चेष्टा करो और बाहर की आँखों को क्रमशः अधिकाधिक संयत करो। जितना ही अपने को अन्तर्मुख रख सकोगे, उतनी ही उन्नति, उतनी ही शान्ति एवं

तृप्ति मिलेगी; और उतना ही ज्ञान, और उतना ही विज्ञान, उतनी ही भक्ति, प्रेम एवं दर्शन (साक्षात्कार) होंगे।

आज इतना ही। अपने शरीर और तपस्या का कुशल समाचार सूचित करना।

शिवमस्तु, इति।

६४

ॐ

श्रद्धास्पदेषु !

साधना में कुछ उन्नति होनेपर साधक कभी ऐसा अनुभव करता है कि इष्ट-मूर्त्ति से अन्यान्य मूर्त्तियाँ निकल कर पुनः उसमें ही विलीन हो जाती हैं; कभी इष्ट-मूर्त्ति अचानक दूसरी किसी मूर्त्ति में बदल गई, और उस मूर्त्ति ने पुनः दूसरा ही मूर्त्तिरूप धारण कर लिया; कभी अनुभव होता है इष्ट-मूर्त्ति (और उसके साथ ही या पृथग्भाव से भिन्न समय में अन्यान्य मूर्त्तियाँ) क्रमशः निराकार में विलीन होकर अदृश्य हो गईं; और कभी अनुभव करता है निराकार से अनेकों मूर्त्तियाँ प्रगट हो गईं।

इस प्रकार के दर्शन या साक्षात्कार होने से एक मूर्त्ति से दूसरी मूर्त्ति का भेद, एवं साकार और निराकार का द्वन्द्व अवश्य ही चिरकालके लिये मिट जाता है। जबतक साधक इस स्थिति में नहीं पहुँचता, तबतक इष्ट-मूर्त्ति और दूसरी मूर्त्तियों में कुछ भेद उसके मनमें अवश्य रहेगा ही।

"श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वज्ञः रामः कमललोचनः॥"

परमात्मा में तो श्रीनाथ (श्रीकृष्ण) और जानकीनाथ (श्रीराम) में भेद नहीं है, तो भी कमललोचन श्रीराम ही मेरा सर्वस्व हैं। (यह हनुमानजी का वाक्य है)

साधनाके आरम्भमें साधक के लिये इष्ट-निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। छोटे पौधों में बाड़ लगानी ही पड़ती है। इष्ट-निष्ठा उत्पन्न होने के पहिले जिस-तिसका संग करनेपर और जिस किसी संगीत या पुस्तक में ध्यान देने से संशय उत्पन्न हो सकता है। अतः इष्टदेव में मनकी स्थिरता न होने तक सावधान रहना ही उचित है। इसप्रकार की स्थिरता या इष्ट-निष्ठा के लिये आपको 'इष्ट ही ब्रह्म और साधकों के हित के लिये उन्होंने ही अन्यान्य मूर्त्ति के स्वरूप धारण किये हैं, ऐसा चिन्तन करना एवं युक्ति और पुस्तकों की सहायता से उस चिन्तन को दृढ़ विश्वास में परिणत करना आवश्यक है। श्यामा या कालीदेवी के विषय में संगीत और शास्त्रादि यथा (देवी-भागवत, चण्डी प्रभृति) एवं श्यामा-भक्त महापुरुषों के जीवन चरित्र तथा उपदेशादिक की आलोचना करना, महाशक्ति जगज्जननी की महिमा एवं प्रेम का चिन्तन तथा श्रवण एवं आलोचना करना; ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही उनका अस्तित्व और

कर्तृत्व की उपलब्धि करने की चेष्टा करना और सबसे अधिक साधना में अनुरक्त होकर उसकी सहायता से सब सन्देह को दूर करने के लिये पूर्णतया यत्न करना भी आवश्यक है।

वस्तुतः साधना के द्वारा उपलब्धि किये बिना केवल दूसरों से सुनकर समस्त संशयों की निवृत्ति नहीं होती। 'यही मूर्त्ति एकमात्र आराध्य है और यही ब्रह्म एवं सब कुछ हैं' इस प्रकार का चिन्तन और संकल्प करते हुए साधन करते रहिये और संशय उत्पन्न होते ही इस प्रकार संकल्प द्वारा और विचार बल से पुनः संशय को हटा देना। कुछ काल तक इस प्रकार की साधना करने से इष्टनिष्ठा दृढ़ होने की सम्भावना है। तब और किसी प्रकार की विपरीत भावना नहीं उठेगी; सभी मूर्त्तियों में उनको ही देख पाओगे, सभी नाम उनके ही नाम हैं—प्रतीत होगा और सब साधकों को उनका ही भक्त तथा उपासक मानेंगे।

श्रीकालीदेवी की पूजा तथा अन्यान्य समस्त देवताओं की पूजा भी साधकों की प्रकृतियों की भिन्नता अनुसार अनेक विधियों से हो सकती है। 'कारण मदिरा' व्यवहार न करने से कालीदेवी का पूजन नहीं होता—इस बात को मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। भक्ति ही पूजा का फल प्रदान करेगी, बाह्य अनुष्ठान नहीं। चाहे 'कारण' (मदिरा) हो या अन्य कुछ; भक्ति से जो कुछ दोगे उसे ही भगवान स्वीकार करेंगे। भगवान मनको देखते हैं, वे बाहरी कर्मों का विचार नहीं करते हैं। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा वे मदिरा को अधिक पसन्द नहीं करते। साधक अपनी प्रकृति के अनुसार अनेक प्रकार के

उपचारों से पूजा करते रहते हैं, परन्तु इन सब अनुष्ठानों का ध्येय होता है भक्तिलाभ करना। जितनी ही भक्ति बढ़ती है उतना ही बाह्य अनुष्ठान कम होता रहता है। प्रकृति या साधक का स्वभाव जितना ही उन्नत होता रहता है, उतना ही अनुष्ठान भी बदलता रहता है। अन्त में जब हृदय में भक्ति-गंगाकी बाढ़आती है, तब उस प्रवाह में समस्त बाह्य अनुष्ठान बह जाते हैं। शास्त्र कहते हैं—

बाह्य पूजा ..... अधमाधम
जप ..... अधम
ध्यान ..... मध्यम
सर्वत्र ब्रह्मदर्शन ..... उत्तम

अध्यात्म विद्यालय की वे चार श्रेणियाँ हैं। जो जैसा हैं, गुरु उसे उसी श्रेणी में भर्ती करके, क्रमशः उन्नत करते हैं।

भक्ति ही आवश्यक है, भक्ति ही प्राप्तव्य है। इसलिये साधननिष्ठ नारद को तपस्या छोड़कर 'ज्ञानसिन्धु शंकर के' समीप जाकर भक्ति प्राप्त करने का उपदेश किया गया था।

आनन्दमयी जगन्माता को स्मरण करने पर हृदय में भावना की जो मादकता आती है, जिससे घृणा, लज्जा और भय मिटकर, सब कुछ विस्मरण हो जाता है, वही सच्चा 'नशा' है। जगत् के कारण आनन्दमयी जगन्माता ही 'कारण' है। बाजार के 'कारण' को (मदिरा को) क्या आवश्यकता है?

६५

ॐ

मेरी माँ ! मेरी प्रेममयी माँ ! मेरी करुणामयी माँ ! तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ? किस प्रकार से चिन्तन करूँ ? ओ माँ ! तुम आप ही अपने को प्रकाशित कर दो माँ ! दिव्यलोक से मोहान्धकार का नाश कर दो माँ !

ओ माँ ! सृष्टि और प्रलय के कितने ही वर्णन सुन रहा हूँ। कोई कहते हैं, तुम सगुण होकर विश्व की रचना करती हो, पुनः संहार के पश्चात निर्गुणरूप से वर्तमान रहती हो। किसी के मत में तुम सदा ही सगुण हो और किसी के मत में सदा ही निर्गुण। कोई तुम्हें साकार और कोई तुम्हें निराकार रूप से वर्णन करते हैं। किसी की दृष्टि में तुम भीषणा हो और किसी की दृष्टि में ज्ञानमयी, और किसी की दृष्टि में तुम प्रेममयी महाशक्ति हो। मैं तो तेरा अबोध शिशु हूं, इन सब बातों को कुछ भी नहीं जानता माँ ! युक्तियाँ सुनते हुए मेरा मन विभ्रान्त हो गया है। माँ ! तू एक-एक मुँह से एक-एक बात कहलाकर नानाप्रकार के नाटक कर रही है। मैं तेरे इस प्रकार के नाटक को और नहीं चाहता माँ ! मुझे और अधिक चक्कर में मत डाल। मेरी माँ! तू मुझे असली बात बता दे माँ! तू कैसी अदभुत है माँ ! जितना ही तुझे देखता हूँ,चिन्तन करता हूँ माँ ! किसी प्रकार से भी तेरा अन्त नहीं मिलता।

क्रिया, ज्ञान तथा-इच्छा शक्तिरूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप में तथा सत्, चित् आनन्द स्वरूप में तू ही अभिनय कर रही है। क्या केवल दो-एक ब्रह्माण्ड हैं? प्रत्येक क्षण में अनन्त क्षण में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और दूसरे असंख्य ब्रह्माण्डों का विनाश भी कर रही हो, पुरुष और प्रकृति के रूप में, चैतन्य और जड़रूप में, शिव और शक्तिरूप में, आत्मा और कोष रूप में तथा स्रष्टा और सृष्टि के रूप में सर्वदा ही प्रतीत हो रही हो। आत्मा–चैतन्य तथा पुरुषरूप में "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" पुनः देहरूप में, जड़रूप में, जगत के रूपों में तू अनित्य, ससीम, चञ्चल और परिवर्तनशील है। माँ! शिवरूप में तू क्रिया हीन और निर्गुण है, और शक्तिरूप में कर्ममयी तथा सदा ही सगुणा है। ओ माँ! केवल इच्छामात्र से ही कितने विश्वों की रचना करती हो। कितनों का नाश करती हो और पुनः प्रत्येक विश्व में सर्वदा कितने प्रकार के खेल खेल रही हो। तू सर्प होकर डसती है और गारुड़ी होकर विष उतारती है। तू दुष्ट बनकर दुष्टता करती है और साधु बनकर सत्कर्म करती है। पुनः जननीरूप में साधक को माया से मुक्त करती हो। विद्युत और मध्याकर्षण, वीर्य और दुर्बलता, देश और काल, घृणा और प्रेम, अच्छे और बुरे इन नाना वेषों में सजकर तू कैसा तमाशा कर रही है किन्तु एक भी तमाशा सदा-सदा के लिए नहीं रखती। माँ, कैसे-कैसे जादू से तू आश्चर्यचकित कर देती है। यह जादू का खेल ही, जादू का खेल ही है। क्योंकि सच और झूठ कुछ निश्चित नहीं होते। कमल के पत्ते पर जल की न्याईं उनका स्पर्श होते हुए भी नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि तू एक ही आधार में साकार और निराकार, निर्गुण और सगुण, एक और अनेक,

अनेक और एक रूप एवं बहुरूप भी है। तेरे अनन्त रूप, अनन्त भाव, अनन्त कर्म एवं तेरी अनन्त शक्ति हैं। तेरा सभी कुछ अनन्त, प्रत्येक अणु-परमाणु भी अनन्त है।

ऐ माँ! मैं शान्त होकर किस तरह उस अनन्त की धारणा करूँगा माँ? सगुण होकर किस तर गुणातीत भाव का चिन्तन करूँगा माँ! अच्छा माँ! रज्जू के एक अंश के मिलने पर ही तो समग्र रज्जू की प्राप्ति हो जाती है एक बूंद पानी को जान लेने से ही तो समग्र जल-तत्व का ज्ञान हो जाता है। फिर ओ माँ! तेरे किसी भी एक भावना की धारणा होने पर तथा तुझे किसी एक सामान्य स्थान में देख लेने से तुझे क्यों नहीं प्राप्त कर सकूँगा? तभी तो कहता हूँ माँ! ऐसा कर जिससे मनुष्यों के भाव, मनुष्यों की प्रवृत्ति, मनुष्यों की भाषा से मैं तुझे देख सकूं और समझ सकूँ माँ ऐसा कर कि प्रेमाश्रुओं से तुम्हारे चरण-कमलों को प्रक्षालित करके उनपर प्रेमाञ्जलि प्रदान करके शांति प्राप्त कर सकूं। माँ! तुम्हारी मुस्कान को देख सकूं। तुम्हें 'माँ, माँ' कहकर पुकारूँ, तुम्हारे साथ बात करूँ प्यार करूँ, तुम्हारी गोद में बैठूं और तुम्हारी बातें सुनूँ- ऐसी प्रेममयी जननी के रूप में आविर्भूत हो जाओ माँ! ओ माँ! मुझे छलो मत! ओ माँ! मैं तुम्हें ऐसे एक रूप में देखना चाहता हूँ जो शान्त होकर भी अनन्त का बोध कराएगा, साकार होकर भी साकार और निराकार, सगुण होकर भी सगुण और निर्गुण का बोध करावे, जिसमें तुम्हारे भीषण और मधुर दोनों ही भाव विद्यमान हों, जो मेरी प्रकृति के अनुकूल हों, जिसे मैं "यह तुम्हारा प्रकट स्वरूप है" ऐसा कहकर उपलब्धि कर सकूं और जिस रूप से मैं तुम्हें प्राप्त करने में समर्थ हो सकूं। माँ! मैं अबोध बालक हूँ—कल्पना से तो इस

प्रकार मूर्ति बनाने की सामर्थ्य नहीं है, अतः माँ कृपा से ही मुझे दर्शन दो।

माँ! एक और बात है। माँ! मुझे डराना मत। तेरा विश्वरूप देखकर अर्जुन भयभीत हुआ था, काली-रूप देखकर नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) डर गया था और जीवन के भय ने राजा रामकृष्ण (रानी भवानी के पुत्र को) तेरे चरणकमलों से वञ्चितकर दिया था। माँ! मैं दुर्बल बालक हूँ। मुझे स्नेहमयी माँ रूप में दर्शन दे। मुझे पवित्र बनाकर प्रेमनयन दे दो माँ!

ओ माँ! यह तेरा कैसा रूप है माँ! तेरा 'काली' नाम क्यों है माँ! माँ! महाकारणरूपिणि निराधारे! प्रलयकाल में सभी तुझ में विलीन हो जाते हैं। क्या इसी कारण से तेरा नाम 'काली' है। तू सर्वमयी विश्वोदरी होने के कारण ही क्या तूने 'काली' नाम लिया है। तेरा रंग काला क्यों है माँ! तेरे अरूप होनेपर ही क्या तुझे सुनील देख रहा हूँ? तू गुणमयी, विश्वेश्वरी जगद्धात्री होने के कारण ही क्या तेरा रंग काला है? अथवा मैं अविद्या की ऐनक लगा लेने के कारण ही क्या दिव्य मूर्ति को काला देख रहा हूँ। नहीं तो काले रंग से जगत क्यों उज्ज्वल हो जाता है माँ! माँ! क्या वस्त्र का अभाव होने से तू दिगम्बरी बनी है? अथवा भावातीता ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी (जो अपने उदर में समस्त ब्रह्माण्डों को धारण करती है) होने पर ही क्या तुझे वस्त्रों का न होना प्रतीत नहीं होता शायद? भीतर तो निर्गुण, बाहर सगुण, इस तात्पर्य को समझाने के लिए ही क्या तू शिव पर खड़ी है माँ गुणातीता होनेपर ही क्या तू षोडशी बालिका की मूर्ति में प्रकट हुई है? ऐ माँ! तूने सृष्टि

के अन्दर विनाश का बीज एवं विनाश के अन्दर सृष्टि का बीज रख दिया है, सर्वदा और सर्वत्र ही तेरी प्रलय का नृत्य चल रहा है। इसीलिए माँ ! विश्वमयी क्या तू श्मशान रंगिनी है (श्मशान में क्रीड़ा करने वाली) अर्थात् (एक प्रेमिल हृदय वासनाहीन-श्मशान की तरह कोरा-ऐसा हृदय मन्दिर तेरा प्रिय निकेतन है) क्या सर्वत्यागी, योगिनी, सन्यासिनी होने के कारण ही तू मुक्तकेशी है अथवा सर्वव्यापिनी होने से आकाश कुन्तला (आकाश की भाँति फैले हुए केश हैं जिसके) है ? ओ माँ ! अघटन घटन पटीयसी (अघटन घटाने में जो बहुत ही कुशल है)। तू सर्वत्र कर्मरूपी नामरूप के आवरण में अपने को छिपाए हुए है। माँ ! क्या इस भाव को सूचित करने के लिए ही तूने कर्मशक्ति रूप नर-कर-किंकिणी (नरों के हाथों की बनी करधनी) पहिनी हुई है। अथवा सत्कर्मों के द्वारा शत्रुओं का नाश करके संसार पार करना पड़ता है। क्या इसे समझाने के लिये ही कर्मभूमि-संसार की सीमारूप कटि देश में असुर-कर मेखला (असुरों के हाथों से बनी करधनी) धारण की है। तेरा कण्ठभरण (गले का हार) क्या अशुभ प्रवृत्ति का पराजय सूचक नहीं है ? अथवा पचास अक्षरों वाली ज्ञानमयी माला को ज्ञान के आधार पचास शिरों से बनायी है। माँ ! महाकाली काल रात्रि के ! प्रलय भी कल्याण का अन्तरूप है। नृत्य भी कल्याण का ही द्योतक है। भीषणताके आवरण में तेरी करुणा ही प्रकट हुई है—इसे सूचित करने के लिये ही क्या तेरा प्रसन्नवदन है ? दनुज-दलनी माँ ! साधक के विघ्नों का नाश करके उसे अभय देने के लिये ही क्या तेरी यह मन्द मुस्कान है ? यह सो कर्म बाहुल्य, यह जो विचित्रताकी परम्परा तथा जो अनन्त परिवर्तनों के प्रवाह दीख पड़ते हैं—ये सभी तुम्हारी आनन्द लीला प्रेमा-

भिनय एवं स्वभाव के विकासमात्र हैं। इस रहस्य को समझाने के लिये ही माँ! रसमयी क्या तू अपने मन में हँसती है? तुम्हारी ज्योतिर्मयी मूर्ति का आभास देने के लिये ही क्या चन्द्र, सूर्य तथा वैश्वानररूप तीन नेत्र तुम में शोभित होते हैं या कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की सहायता से तुम्हारा दर्शन किया जाता है। इसलिये ही तुम त्रिनयना हुईं। ओ माँ! तुझमें इतने विपरीत भावों का सम्मिलन क्यों देख रहा हूँ। बाँई ओर भय उत्पन्न करने वाली तलवार तथा छिन्न मस्तक पुनः दाँई ओर वर और अभय देने वाला कर-कमल है। प्रसन्नवदन और तुम्हारी जिह्वा बाहर है। ऐ माँ! क्या यह तेरे शरणागत भक्त के प्रति प्रेम और उसके शत्रु के प्रति भय-प्रदर्शन करना सूचित नहीं करता। प्रेममयी जगज्जननी! मैं तुझे किस तरह समझूँ? मेरे हृदय में जैसी भावना दे रही है, उसी भावना से तेरा स्तवन करूँ माँ! तू प्रसन्न होकर मुझे गोद में उठाले माँ!

हृत सरोवर में अरुण कमल है।
तापर शोभित सूचि पदतल है॥
नखर निकर जिमि शशी परिकर है।
सुभग सुतन सुनील सुन्दर है।
तनुच्छटा त्रिभुवन पूरित है।
सो छवि लखि मम तनु पुलकित है॥
रम्भातरु सम ऊरु युगल है।
कर्म शक्ति कटिकर मेखल है॥
गले वेद मालिका बिराजहि।
विश्वेश्वरी साधहि सबकाजही॥
नाभि सुगभीर जननी दिगम्बरी।
सर्वमयो माया जगदुदरी॥

उदर अगाध सिन्धु सम साजे।
ता में अण्ड अनन्त विराजे॥
मानहूँ अगणित अनु उठि नाचहिं।
तैं रहिं डूबहि हँसहि काँदहि[1]॥
देव दनुज अरु स्वजन कुजन सब।
भ्रमहि निरन्तर घटिचक्र वत॥
तव प्रकाश यहँ तम अलोका।
खेलहि जिमि जल बीचि विशोका॥
साधक शिशु के मंगल - कारण।
किये अविद्या का शिर धारण॥
ज्ञान खड्गसों सो तुम काटहु।
मुक्ति सुवरदे भय सब नासहु॥
विश्वविमोहिनि! हे जगज्जननी।
अभय प्रदायिनी प्रसन्न वदनी॥
साधक शिशु पयपान करावनि।
करुणनयन लखि हिय हरसावनि॥
प्रमुदित मुख सुमधुर मुसकाई।
नीरव रव वहु बात सुनाई॥
देखि सो हँसि अकनि सो बानी।
लखि आदर सुदृष्टि रसखानी॥
शिशु साधक की पुजहि कामना।
का संकेत दन्त धरि रसना॥
तवहि तोर विज्ञान विलोचन।
करहिं प्रमोद वारि वर्सन॥
सो जल बूढ़ि सकल संसारा।
है केवल आनन्द - अपारा॥

१. रोना।

६६

ॐ

नारायणेषु !

जिस देश के विल्वमंगल ने विश्वकल्याणकारी महापुरुषत्व को प्राप्त किया था, जिस देश के रत्नाकर में (बाल्मिकी का नाम) वाल्मिकीत्व प्रकट होकर पृथ्वी को अमर-सौरभ-प्रदान किया हैं; उसी देश की सन्तान होकर, यदि तुम आशाहीन, उद्यमहीन एवं उत्साहहीन बन जाओ, तो उससे अधिक लज्जा और आपत्ति का विषय और क्या हो सकता है ? यह भारतवर्ष चिरकाल से आध्यात्मिकता की विलास भूमि है। पूर्वी बंगाल के खेतों की भाँति यहाँ सामान्य-परिश्रम से ही मानव-जीवनरूपी खेत में सोना (उत्तम फल) पैदा किया जा सकता हैं। यदि परम सौभाग्य से तुमने इस देश में जन्म लिया है और बहुत पुण्यों के कारण बलवान एवं कर्मकुशल युवक-देह प्राप्त किया है, तो इस अनमोल सुयोग को व्यर्थ नहीं गँवाना। चेष्टा करो तथा सतत् चेष्टा करते ही रहो। सत्चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं होगी। जिसकी सत्चेष्टा होती हैं भगवान उसके सहायक बनते हैं; और केवल भगवान ही नहीं प्रयत्न करते रहने से, देखोगे समग्र जगत् तुम्हारा सहायक है, और समझोगे जड़-जगत् भी तुम्हारा इष्ट साधन कर रहा है।

किस प्रकार चेष्टा करोगे ? सेवा, उपासना, विद्याभ्यास एवं अन्यान्य कर्त्तव्य कर्मों को ठीक समय पर, नियमानुसार भलीभाँति करना। अन्यान्य कर्मका त्याग करना, देह और मन के संयम का अभ्यास करना तथा पवित्रता और शिष्टाचार की सावधानी से रक्षा करना। यदि इस प्रकार से कुछ काल तक जीवन व्यतीत कर सको तो अनुभव करोगे- तुम्हारा चित्त निर्मल होकर विवेक वैराग्य और भक्तिसे शोभित हुआ है। तत्पश्चात् उस त्रिधारा के (विवेक, वैराग्य और भक्ति के) पवित्र संगम में स्नान करके एवं विज्ञानकामी (अपरोक्ष अनुभव की इच्छा रखकर) होकर यदि तुम तत्त्वसाक्षात्कार तक विधिपूर्वक योग्यरीति से साधन सम्पन्न रह सको तो अवश्य ही शान्ति प्राप्त करने में समर्थ होगे।

यदि कर्त्तव्य का निश्चय न कर सको और कर्त्तव्य करने का सामर्थ्य भी सदा न हो, तो उसके लिये भगवान से प्रार्थना करो। क्या तुमने नहीं सुना रोग मुक्ति की आशा से कितने लोग श्रीबाबा वैद्यनाथ तथा बाबा तारकनाथ के (शिव स्थान) द्वार पर मरणपर्यन्त धरना देने का प्रण करके पड़े नहीं रहते हैं ? तुम भी त्रिदोष निवृत्ति के लिये (सत्त्व रज और तमोगुण रूप प्रकृति के अधीन रहना ही त्रिदोष है) और समस्त अभावों को मिटाने के लिये भगवान के द्वारपर मरणपर्यन्त पड़े रहने का प्रण करो। उनका नाम लो, उनकी महिमा स्मरण करो, उनकी कृपा याचना करो, उनसे शक्ति प्राप्ति के लिये भीख मांगो और जिससे वे तुम्हारे समस्त भार स्वीकार करें उसके लिये रोते रहो। तुम्हारे करुण रुदन से भगवान की स्वाधीनता टूट जायगी और तुम्हारी अशान्ति भी मिट जायगी।

अधिक पुस्तक पढ़ने से क्या लाभ है ? यदि केवल एक ही उपदेश अनुसरण कर जीवन को तैयार करने से मनुष्यत्त्व की प्राप्ति होती है तो असंख्य पुस्तकों के पाठ से समय और शक्ति का नाश करने की क्या आवश्यकता है ? अधिक पढ़ने से कभी-कभी चित्त विमोहित हो जाता है। उद्-भ्रान्त होने की सम्भावना रहती है, और संशय का आवरण भी अधिक प्रगाढ़ हो सकता है। और भी एक बात है। जीवन को तैयार करने के लिये बहुत परिश्रम करना होगा। केवल पढ़ने सुनने में ही समय बिताते रहोगे तो कब अभ्यास करने का समय मिलेगा ? जीवन का एक Principle सिद्धान्त निश्चय कर लो और तदनुसार कर्त्तव्य के मार्ग में चलते रहो। अपने भाव के अनुकूल एक दो पुस्तकें पढ़ सकते हो, अधिक नहीं।

राँचि।

६७

ॐ

नारायणेषु ।

तुमने तो पत्र भी बहुत पढ़े हैं और कहानी भी बहुत सुनी; किन्तु उससे लाभ क्या हुआ ? आज तक, पहिले की भाँति कहानी सुनने की तथा उपदेश पाने की इच्छा बनी हुई है। एक ही उपदेश पर जीवन को नियन्त्रित करने से जीवन धन्य हो जाता है; सौ-सौ उपदेश की क्या आवश्यकता है ? अस्तु ! इसबार भी तुम्हारी इच्छानुसार एक कहानी लिख रहा हूँ ।

दो या तीन सौ वर्ष पहिले महाराष्ट्र में पुण्डरीक नाम के एक महान् व्यक्ति आविर्भूत हुए थे । अल्प आयुकाल में ही उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा ने आत्मीय, बान्धव और संगी साथियों को आश्चर्यचकित किया था। छोटे या बड़े प्रत्येक कर्म में ही वे पूर्ण ध्यान देते थे और अत्यन्त यत्न तथा धैर्य के साथ उसे अच्छी तरह पूरा करते थे। कर्म ने ही उनके धर्म के स्थान पर अधिकार कर लिया था। एवं समस्त कर्मों को ही वे भगवत् प्रीति के लिये करते थे। एकदिन वे हुए अपने पिताजी के दोनों चरणों को अपनी गोद में रखकर प्रेम से पाद सेवा में लगे थे। उस समय अचानक वहाँ

पर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का आविर्भाव हुआ। पुण्डरीक पितृ-सेवा में इतने मग्न थे कि श्री श्रीभगवान की उपस्थिति को जानने में भी उन्हें कुछ समय लगा। बिना किसी सम्भावना के अकस्मात् भगवान् की दिव्यमूर्ति को देखकर वे प्रेमाद्र-हृदय से कुछ क्षण तक स्तम्भित रह गये, पश्चात् अपने आसन से न उठ कर ही पृथ्वीपर शिर रखकर उन्होंने भगवान को प्रणाम करके गद्-गद् वाणी से कहा "हे कृपानिधान ! इस कर्महीन अपात्र को दर्शन देकर आपने कितनी करुणा का परिचय दिया है। दयामय ! आप अतुलनीय वात्सल्य के आधार हैं। अतः मेरे अपराध के लिये मुझे क्षमा करें पिताजी विश्राम कर रहे हैं और मैं उनकी सेवामें लगा हुआ हूं। उनके चरणों को छोड़कर मैं अभी उठकर आपकी श्रीचरण-वन्दनादि नहीं कर सकता हूँ। हे दीन दयाल ! यदि आप इस दासपर प्रसन्न हैं, तो इस ईंट के टुकड़ेपर बैठ जाईये। श्रीभगवान ने हँसकर कहा— "पुण्डरीक ! मुझे बैठने की आवश्यकता नहीं है। तुम जो अपने कर्त्तव्यों को भलीभाँति करते हो उसीसे मैं प्रसन्न हूँ। जिस प्रकार सुन्दर रीति से तथा प्रेमपूर्वक तुम पितृसेवा कर रहे थे, उसे देखने के लिये ही मैं यहाँ आकर तुम्हारी आँखों के सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ। तुम्हारा मंगल हो। अब जाता हूँ।"

कहानी तो तुमने सुनली है। अभी से यदि कर्त्तव्य परायण बन सको, तभी कहानी सुनना सार्थक होगा और तुम्हारा जीवन भी धन्य होगा। जितनी आयु बीत चुकी उसके लिये सोचने की आवश्यकता नहीं है। जो सामान्य अब भी अवशेष है, उसी का सदुपयोग करने की चेष्टा करो।

कब कौन-सी पुस्तक पढ़ोगे, कब किस कार्य को करोगे, उसका एक नियम, विचारपूर्वक बना लो और उसके अनुसार धैर्य तथा उत्साह के साथ समस्त कर्त्तव्य कर्मों को भलीभाँति करने का यत्न करो। किसी भी नियम के अधीन न होकर मनमाना कार्य करते रहने से चरित्र नहीं बनता। जिन नियमों को बनाओगे वह प्रतिकूल प्रतीत होने पर उसे परिवर्तित भी कर सकते हो। परन्तु उस प्रकार का परिवर्तन जितना कम हो उतना ही शुभकारी है। और जो नियम जब तक चालू रहे, परिवर्तन न होने तक उस नियम पर ही चलना होगा। अच्छा न लगनेपर ही नियम को नहीं बदलना चाहिये। उपकार और अनुपकार का विचार करके ही कार्य करना होगा। प्रतिदिन समय पर सोना, समय पर स्नान और आहार करना, नियतकाल में ध्यान और जपादि करने को बैठ जाना, ठीक समय पर निर्दिष्ट पुस्तकें पढ़ना, ठीक समयपर घूमना एवं ठीक समय पर अन्य सब कार्यों को करने की चेष्टा करते रहना। आज का पाठ कलके लिये और इस समय का कार्य दूसरे समय के लिये नहीं रखना।

पुस्तकें, स्याही, दवात, कलमें जूता, पहनने का कोट और वस्त्रादि निर्दिष्ट स्थान पर व्यवस्था से तथा यत्न से रखने की चेष्टा करना। आज यहाँ तो कल वहां—ऐसा कभी नहीं होना चाहिये।

वस्त्र तथा बिछौने को साफ रखना; किन्तु स्वच्छता के बहाने विलासिता बढ़ाने का अभ्यास नहीं करना चाहिये अपने कमरे को ठीक समय पर झाड़ू लगाना एवं कभी-कभी लिखना भी चाहिये। अनुचित भोजन का त्याग करना। लोभ के वशीभूत होकर कुछ भी खाना नहीं चाहिये। शरीर

और स्वास्थ्य की रक्षा के लिये ही आहार लेना चाहिये। जहाँ तक हो सके सात्विक आहार लेने की चेष्टा करना। पवित्र भावना के साथ भगवान का प्रसाद मानकर आहार करना।

दिन में सोना छोड़ देना। रात्रि में आहार के पश्चात् एक घण्टा बीतने पर ही सोना। स्वप्न निद्रा और अधिक निद्रा दोनों ही हानिकारक हैं। अचेत (गहरी नींद में) होकर मत सोना। निद्रा के प्रारम्भ में भगवच्चिन्तन करते रहना।

निश्चित समय में अपने आसन पर उत्तर या पूर्वदिशा की ओर मुँह कर के और सीधे बैठकर ध्यान-जप मानस-पूजा तथा प्रार्थनादि करना। इनमें से जिसको करने में अधिक रुचि हो, उसके लिये अधिक समय लगाने में आपत्ति नहीं है। परन्तु प्रतिदिन सभी करना चाहिये। मन एकाग्र न होने पर भी करना चाहिये। यदि इष्ट मूर्ति के किसी विशेष अंग का ध्यान करने की अधिक रुचि हो तो उस अंग का ध्यान अधिक समय कर सकते हो। किन्तु सभी अंग का कुछ समय तक ध्यान करना ही होगा। समस्त अंगों को पृथक्-पृथक् देख लेना, पुनः किसी समय समस्त शरीर को एकत्र देखने की चेष्टा करना। जप मानसिक भी कर सकते हो और इच्छा होने पर ऊंचे स्वर से भी।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रणाली से निश्चित समय पर उपासना तो करनी ही होगी, इसके अतिरिक्त जिस किसी समयमें सम्भव होगा उसी समय चाहे मूर्ति-चिन्तन, नाम-जप या अन्य और किसी भी प्रकार से भगवत् स्मरण या चिन्तन करने की चेष्टा करना।

प्रतिदिन कुछ समय, कम से कम कुछ मुहूर्त्त तक गीता या अन्य किसी भी धर्म ग्रन्थ की आवृत्ति या पाठ करने से लाभ ही होगा। कुछ अच्छी अच्छी कवितायें कठस्थ करना भी लाभदायक है।

गुरुजनों की मर्यादा रखनी होगी। दूसरे सगे सम्बन्धियों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार रखना। दास, दासीयों के साथ भी प्रीतिपूर्ण व्यवहार रखना चाहिये। शिष्टाचार और नम्रता सर्वदा रखनी चाहिये। उद्धत किसी प्रकार से भी प्रशंसा योग्य नहीं हो सकता।

परनिन्दा तथा पर द्रोहका त्याग करना, समस्त जीवों को भगवत्-सन्तान मानकर उनपर प्रीति रखने का अभ्यास करना। जहाँ तक हो सके परोपकार करने की चेष्टा करना।

कभी भी आलसी नहीं बनना। आलस्यसे शरीर नष्ट हो जाता है, मन दुर्बल होता है और साथ दूसरे भी नुकसान उठाते हैं। सदा किसी न किसी सत्कर्म में लगे रहना।

जो उन्नति की इच्छा रखता है, उसे सरल तथा पवित्र होना पड़ेगा। सर्वदा स्मरण रखना धर्म का आरम्भ सत्यनिष्ठा में है और क्रोध में उसका विनाश है।

इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके और कितना कहूँ? संक्षेप से एक बात कह देता हूँ—अपने और दूसरे के विषय में, जगत और भगवान के विषय में जितने कर्त्तव्य हैं उन्हें भलो-भाति करने की सर्वदा चेष्टा करते रहना।

छोटे-छोटे कर्त्तव्यों की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। महात्मा पयहारीबाबा जैसी एकाग्रतासे भजन करते थे

ठीक उसी प्रकार एकाग्रता से थाली कटोरी साफ करते थे। सुना है बंगभाषा में "नीग्रो जाति का कर्मवीर" नाम से एक पुस्तक छपी है। उसमें जिनका इतिहास लिखा है वे किसी समय नौकरी की खोज में एक धनी के मकान पर गये थे। उस धनी ने उन्हें घर साफ करने का आदेश दिया। उस कर्म प्रार्थी ने इस प्रकार कुशलता से उस कार्य को किया कि मालिक ने प्रसन्न होकर उन्हें ही नौकरी दी। यह कर्मवीर ही भविष्य में कर्त्तव्य परायणता के पुण्य-प्रभाव से समग्र नीग्रोजाति के अप्रतिद्वन्द्वी जन नायक हुये थे। इसलिये कहता हूँ कि किसी भी कार्य को सामान्य मानकर उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये।

सभी कार्यों को योग रीति से अच्छी तरह करने के लिये प्रतिज्ञा करनी चाहिये—"मैं सर्वदा कर्त्तव्य पालन करूँगा, सदा सत्य-मार्गपर चलूंगा, और कभी भी अन्याय कर्म नहीं करूँगा। जो उचित होगा उसे सर्वदा ही करूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करो, और प्रतिज्ञा रक्षा के लिये प्राणपन यत्न करो। एकबार स्खलित होने पर भी पुरुषार्थ मत छोड़ो। पुनः नवीन उत्साह के साथ तथा नवीन शक्ति से प्रतिज्ञा करो। प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये अधिकतर सावधानी से तैयार हो जाओ एवं भगवान से शक्ति के लिये प्रार्थना करो। भगवान रथांगपाणि अवश्य ही प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये सहायता करेंगे।

कभी-कभी ऐसा संशय हो भी सकता है कि इन दोनों में कौन-सा कर्त्तव्य है? कौन-सा अच्छा है या कौन-सा बुरा है? ऐसी स्थिति में जहाँ स्वयं कर्त्तव्य का निश्चय करने में असमर्थ बनोगे, वहाँ अवश्य ही किसी योग्य श्रद्धास्पद व्यक्ति से परामर्श कर लेना। किन्तु ऐसी घटना प्रायः नहीं होगी। धीरे-

धीरे अपने कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का निश्चय तुम स्वयं हो कर सकोगे।

प्रतिज्ञा की रक्षा तथा कर्त्तव्य-साधन के मार्ग में प्रधान विघ्न होता है 'संयम का अभाव' यदि इन्द्रियों के गुलाम बन जाओ और सर्वदा मनमाने विचार पर ही चलते रहो, तो परिश्रमी एवं कर्मकुशल बनना असम्भव होगा। इसलिये सर्वदा संयमी होने की चेष्टा करना। संयम और वैराग्य प्रायः एकार्थबाची शब्द हैं। इन्द्रियों के अधीन नहीं होना, तथा विषयों के भी अधीन नहीं होना। मनको और इन्द्रियों को भगवान की ओर रखना होगा। जो भगवान को प्राप्त करना चाहता है वह विषयों की सेवा क्यों करेगा? जो आँखें अबतक किसी मित्र का रूप लावण्य देखने के लिये तरसती हैं, भगवान की दिव्य-मधुर मूर्त्ति के दर्शन का उन्हें क्या अधिकार है? जो कर्ण कुत्सित संगीत सुनने के लिये व्याकुल रहते हैं, उन्हें भगवानकी मधुमयी वाणी सुनने का क्या अधिकार है? जो हृदय विषय-सेवन में ही मग्न है उस मलिन हृदय में भगवान का पवित्र सिंहासन को रखने का तुम्हारा क्या अधिकार है?

यदि भगवान की कृपा प्राप्तकर धन्य होना चाहो, यदि उनकी आनन्दघन मूर्त्ति को हृदय-सिंहासन पर चिरकाल के लिये रखना चाहो, तो मनको निर्मल करना होगा, इन्द्रियों का दमन करना होगा एवं मनको सर्वदा पवित्र चिन्तन में लगाये रखना होगा। इन्द्रियों का दमन करने के लिये तथा मनको संयत करने के लिये पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। सर्वदा देह और मनको पवित्र रखना होगा। जब भी अपवित्रता मालूम हो तभी पवित्र भावना के द्वारा उसे हटाना होगा।

इस प्रकार से यदि कुछ काल पर्यन्त इन्द्रिय-संयम के साथ अपने कर्त्तव्यों को कर सकोगे तो योग में प्रवृत्ति और अधिकार उत्पन्न होंगे उस समय विधिपूर्वक योगाभ्यास करने से मनको एकाग्र कर सकोगे। जब मन एकाग्र होकर शांत होगा तब तुम नित्यानन्द प्राप्तकर धन्य हो सकोगे। तब तुम्हारा हृदय मधुमय होगा और समग्र विश्वब्रह्माण्ड तुमपर मधुक्षरण करता रहेगा।

इसलिये पुनः कहता हूँ उस सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये तुरन्त ही प्रतिज्ञाबद्ध हो जाओ, मनोयोग, सरलता एवं श्रद्धा के साथ अपने कर्त्तव्यों को अच्छी तरह करने की चेष्टा करो। कभी भी धैर्य तथा उत्साह का त्याग नहीं करना, धैर्य ही प्राण और उत्साह बल है। महाजनों के जीवन चरित्र का स्मरण करना। क्यों संसार में आये हो? तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है, और किस तरह जीवन व्यतीत करने से तुम्हारे कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन किया जायेगा? इन सब विषयों पर विचार करना और सर्वदा सरल हृदयसे भगवान से प्रार्थना करना। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द ने कहा है "जो व्यक्ति उन्नति की इच्छा रखकर भगवान की सहायता के लिये प्रार्थना करता है, पार्थसारथी उसके भी सारथी होने को तैयार होते हैं। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

कनखल।
२८।८।'१९

★

६८

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र ठीक समय पर मिला, भगवान के प्रति जिसका सच्चा अनुराग है; वह साधन-भजन छोड़कर किस तरह व्यर्थ दिन व्यतीत करेगा ? जिस क्षण में भगवान का स्मरण न हो वह क्षण व्यर्थ ही बीता, साधक के हृदय में ऐसी ही भावना उठती है। भगवत् स्मरण मानव-जीवन का ध्येय है। उस कर्म का परित्याग कर दूसरी ओर ध्यान देना तथा विषयों में आसक्त होना किसी भक्त के लिए उचित नहीं है। कितने सौभाग्य से मनुष्य हुए हो, और पुरुष शरीर प्राप्त किया है। यदि इसी जन्म में भगवान को प्राप्त न कर सको तो ऐसा सुयोग और कब मिले—क्या ठिकाना है ? तुम्हारी अल्प आयु में ही साधन अनायास हो सकता है; ऐसी आयु में ही सरल चित्त भक्त, साधक अनायास इष्टदेव को प्रसन्न कर सकता है। यदि इसीसमयका सदुपयोग न करो, तो वृद्धावस्थामें अनुताप करने पर कुछ भी लाभ नहीं होगा। साधारण पशुधर्मी मनुष्य की न्याईं केवल आहार-निद्रादि में तो बहुत जन्म बिता चुके हो, जिससे इस जन्म को सच्चे मनुष्य की भाँति व्यतीत कर सको उसके लिये चेष्टा करो। तुम्हारे पास समय, शक्ति और सुयोग हैं। केवल इच्छा और पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

चाहे ध्यान अच्छा हो या बुरा, उससे आजकल कुछ लाभ या हानि नहीं होगी। केवल सावधान रहना जिससे सर्वदा पवित्र और सरल रह सको। जितना अधिक समय सम्भव हो भगवान में मन लगा रहे, और आवश्यक कर्त्तव्यों को योग्य रीति से कर सको। कोई-कोई धर्म लाभ के बहाने से विनय, शिष्टाचार तथा गुरुजनों के प्रति श्रद्धा को बिल्कुल छोड़ देते हैं। सावधान रहना जिससे तुम भी उसी कोटि में मिलकर कलङ्कित न हो जाओ।

ध्यान में मूर्ति चाहे छोटी हो या बड़ी, उसमें कुछ भी हानि नहीं है। जब जिस परिमाप की मूर्तिभासे उसी में मनको एकाग्र करने की चेष्टा करना। जैसे लोग पुष्प-पत्रादि से भगवानकी पूजा करते हैं, वैसे ही तुम भी पवित्र भावनासे भक्ति के साथ, संकल्पित पुष्प पत्र नैवेद्य एवं मिष्ठान्नादि समर्पितकर मानस मूर्ति का पूजन करना। कुछ क्षण तक मूर्त्ति को एकाग्र दृष्टि से देखते रहना, और पश्चात् जब तक सम्भव हो मूर्त्ति देखते हुए नाम जप करना।

नाम-जप करते समय यदि मूर्त्ति को मानस दृष्टि में ला सको तो ठीक ही है, अन्यथा केवल नाम जप ही करते रहना, यदि इच्छा हो तो नाम-जपके समय मनको आज्ञा-चक्र में रख सकते हो; उससे हानि नहीं होगी। किन्तु ध्यान रखना जिससे तुम्हारी आँखें आज्ञाचक्र को न देखें, आखें मूंद कर जप करने की चेष्टा करना। जप करने के समय यदि मन बहिर्मुख हो जाय या भगवत् नाम सहज ही अन्तर से स्फुरित न हो तो भी कुछ अधिक हानि नहीं होगी। वैखरी जप (उच्चारण करते हुए जप करना) करने से भी लाभ होगा।

किन्तु यदि बहुत अधिक चित्त-विक्षेप हो तो कुछ क्षण जप बन्द रखकर विचार द्वारा या अन्य किसी प्रकार से मनको शान्त करने की चेष्टा करना।

प्रतिदिन कुछ समय (कम से कम १०-१५ मिनट) गीता पढ़ना। अर्थ न समझने पर भी शुद्ध आवृत्ति करना।

स्वयं तो सर्वदा सरल और पवित्र रहना ही होगा, अपने साथियों को भी पवित्र एवं सत्य-परायण होने को कहना। कभी भी असत्संग में नहीं रहना चाहिये।

"भगवान मंगलमय है वे जो कुछ करते हैं, उससे तुम्हारा कल्याण ही होगा। दुःख और कष्ट भी प्रेममय का उपहार है" इस बात को नहीं भूलना। दुःख से ही धैर्य की, प्रलोभन से संयम की, और आपत्ति से मनुष्यत्व की परीक्षा होती है। तुम्हारी उन्नति के कारण ही और तुम्हारी शक्ति के विकास के लिये ही दुःख-कष्ट आते रहते हैं। इनका आदर करना, इन्हें कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना और इनके अन्दर प्रेममय की प्रतिकृति को देखकर प्रसन्न होना।

विद्याभ्यास नियमित रूप से करना चाहिये। जो विद्यार्थी वर्ष के आरम्भ से ही प्रतिदिन नियमानुसार विद्याभ्यास करता है परीक्षा के समय वह अति व्याकुल नहीं होता, प्रत्युत परीक्षा के अन्त में वह बन्धु-बान्धवों के साथ प्रसन्न ही रहता है। जिस विषय में तुम्हारा ज्ञान अल्प है, जिस विषय को तुम नहीं जानते हो उसको दूसरों से सीख लेने की चेष्टा करना। अपनी मूर्खता को छिपाना उचित नहीं है, और विद्वत्ता का प्रचार करना भी ठीक नहीं।

क्या तुमने रामायण और महाभारत पढ़े हैं ? सच्चा मनुष्य होने के लिये इन दोनों पुस्तकों को पढ़ना उचित है।

६९

ॐ

नारायणेषु ।

भगवत् प्राप्ति ही मानव-जीवन का श्रेष्ठतम अधिकार है और वही हमारा लक्ष्य है। भगवत् प्राप्ति की चेष्टा ही पुरुषार्थ कहा जाता है, अन्य कर्म पशु चेष्टा मात्र है। जो कर्म भगवत् प्राप्ति के अनुकूल हैं उसे ही करना चाहिये, और जो भगवत्-प्राप्ति के प्रतिकूल हैं वह त्यागने योग्य है। यदि मनुष्य जन्म लिया है तो सर्वदा पूर्ण पुरुषार्थ के साथ उसी लक्ष्य में पहुँचने के लिये चेष्टा करो। यदि ध्येय के प्रति एकनिष्ठता रहेगी, तो धैर्य तथा पुरुषार्थबल से अल्प शक्ति वाला मानव भी उस टिट्टिभ की भाँति इस चेष्टा में सफल हो सकेगा। लक्ष्य प्राप्ति के लिये केवल आवश्यक है—भगवान का नामजप और भगवत्-स्मरण।

"सरल व्याकुल हृदय सों निरन्तर ताहि पुकारो।" पुकारते-पुकारते ही शक्ति बढ़ेगी। नाम-जप करते हुए ही साधन के सब विघ्न हट जायेंगे।

चाहे किसी प्रकार से भी हो, जितना अधिक समय सम्भव हो, भगवान को स्मरण करने की चेष्टा करो। उनकी प्राप्ति के लिये समस्त कर्त्तव्य कर्मों को भली-भाँति करने की चेष्टा करो। विश्व-मन्दिर में विश्वमूर्त्ति की सेवा तथा पूजा करके कृतार्थ हो जाओ।

कौन सेवा नहीं कर सकता? सम्भवतः तुम्हारा शरीर रोगी है किन्तु शारीरिक सेवा ही एकमात्र सेवा नहीं है। और ऐसी बात भी नहीं कि रोगी शरीर से किसी की भी सेवा नहीं हो सकती। यदि इच्छा हो तो देखोगे कि तुम्हारे सामने सेवा के सहस्र मार्ग वर्तमान हैं।

कभी-कभी दो-एक बातों से भी कितने लोगों-की सेवा की जा सकती है। एक पैसा, एक फटा वस्त्र या एक गिलास पीने का पानी—क्या सेवा का ये सब उपकरण भी तुम्हारे पास नहीं है? एक छोटे बालक को उसका पाठ पढ़ाकर क्या उसकी सेवा तुम नहीं कर सकते? मानो कि तुम्हारा बिस्तर लगाने के लिये एक नौकर नियुक्त किया हुआ है, इस कार्य के लिये उसे तुमसे मासिक वेतन मिलता है। प्रतिदिन ठीक समय पर बिस्तर तैयार रखना उसका आवश्यक कर्म है। मान लो वह किसी दिन कहीं से बहुत अधिक परिश्रान्त होकर आया है। उस दिन तुम स्वयं अपना बिछौना बिछाकर उस नौकर को उस कर्म से छुट्टी देकर क्या उसकी सेवा नहीं कर सकते? मान लो तुम कहीं जा रहे हो और

तुम्हारे जाने के मार्ग पर तुम्हारे सामने ही एक कौआ कुछ खा रहा है, यदि तुम एक पग भी आगे बढ़ोगे तो कौआ निश्चय ही अपना आहार छोड़कर उड़ जायगा। यदि तुम उस मार्ग में न जाकर दूसरे किसी मार्ग से घूमकर जाओ तो कौए का आहार बन्द न होगा। ऐसी स्थिति में थोड़ा चक्कर काटते हुए जाकर क्या तुम कौओं की सेवा नहीं कर सकते हो ? इसी तरह मान लो कि तुम्हारे सामने पानी के भीतर एक कीड़ा गोता खा रहा है, क्या उसे किनारेपर निकालना भी तुम्हारे लिये असम्भव है ? कितने दृष्टान्त दूँ ? जितनी ही सेवा करोगे उतना ही सेवा का सुयोग मिलेगा। (प्रारम्भ में) जब मनुष्य केवल अपने स्वार्थ पर जीवन व्यतीत करता है तब वह सेवा नहीं करता, और न ही करना चाहता है, उसे सेवा करना आता भी नहीं और कहाँ किस प्रकार से सेवा करनी होगी, इसकी भी उसे समझ नहीं होती, किन्तु सेवा का सुयोग ढूंढ़ते हुए, सेवा करते हुए, सेवा करने का सुयोग भी अधिकाधिक मिलता रहता है। अन्तमें उसे अनुभव होता है कि सेवा के सुयोग अनन्त हैं, कृपामय भगवान अनन्त मूर्तियों में तथा अनन्त प्रकार से हमें सेवा का सुयोग तथा पूजा का अधिकार देते रहते हैं।

पुनः यदि अपने कर्म के द्वारा कभी दूसरे की सेवा न भी कर सको, तो दूसरे को असुविधा में न डालकर और असुविधा का कारण न बन कर भी तो कितने समय सेवा कर सकते हो ! तुम्हारे आराम के लिये तथा तुम्हारे स्वार्थ के लिये कितने लोगों को कितना परिश्रम करना पड़ता है। जितनी मात्रा में तुम्हारी आराम लेने की प्रवृत्ति कम होगी, एवं जितनी मात्रा में तुम्हारी स्वार्थ-बुद्धि नष्ट होगी उतना ही तुम्हारे लिये

दूसरों का परिश्रम कम होगा और उतनी ही अधिक तुम दूसरों की सेवा कर सकोगे ।

तुम्हारे लिये मानो तीन रुपये के एक कोट की आवश्यकता है । यदि दो रुपये के कोट से निर्वाह कर सको तो क्या बाकी एक रुपये से जगत् की सेवा नहीं हो सकती ?

अपने कर्त्तव्यों को करने से भी तो सेवा होती है ! भलीभाँति विद्याभ्यास करके आत्मीय तथा बन्धुओंको प्रसन्न किया जा सकता है । धर्मजीवन में उन्नत होकर भी तो भगवान को प्रसन्न किया जा सकता है । आलस्य त्याग करके और सत्य मार्ग पर दृढ़ होकर भी तो जगत् की सेवा, तथा भगवान की सेवा की जा सकती है । पवित्र जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करो तो तुम्हारी बिना चेष्टा से अनजान में जगत को तुम्हारी सेवा मिलेगी ।

पवित्र जीवन बिताने की चेष्टा बहुत कठिन नहीं है । अपवित्रता को पूर्णतया त्याग करना होगा । कभी तुम दुष्ट थे, कभी तुम्हारे अन्दर कुछ भी दुष्टता थी, या अभी है इस प्रकार की चिन्ता भी नहीं करना । जिससे मन अपवित्र हो, ऐसा कर्म, ऐसी चिन्ता, ऐसी पुस्तकों का पाठ, और ऐसे लोगों का संग किसी प्रकार से भी नहीं करना ।

सर्वदा पवित्र रीति से, पवित्र चिन्तन से एवं पवित्र कर्म से शरीर तथा मन को लगाये रखना । मन कुमार्ग पर जाते ही उसे लौटाकर शुभ मार्ग के लिये प्रेरित करना ।

सेवा करते हुए पवित्रता भी बढ़ेगी, पवित्रता जितनी बढ़ेगी उतनी ही सेवा करने की तथा पवित्रता को

सुरक्षित रखने की शक्ति भी बढ़ेगी। पवित्रता से ही मन एकाग्र होगा, अशान्ति मिटेगी और जीवन धन्य होगा।

शिवमस्तु। इति।

काशीधाम
२२-८-१८

७०

ॐ

नारायणेषु।

आजकल ज्येष्ठ मास में खूब आम खारहे हो, न? किन्तु जानते हो, इन पक्के आमों को तैयार करने को "भगामाली" (भगवान रूप माली) को कितने महीनों तक परिश्रम करना पड़ा! बहुत परिश्रम से रसोई तैयार न करने से भोजन में तृप्ति नहीं होती। वैसे ही यदि आनन्द लाभ की तथा शान्ति प्राप्त करने की इच्छा हो, तो अत्यन्त मनोयोग के साथ साधन करते रहो। चौबीस वर्ष की आयु तक साधना के लिये सबसे उत्तम समय है ऐसा महापुरुषों ने कहा है। सम्भवतः इसी समय साधना में जल्दी ही सफलता प्राप्त होती है। इस

समय को सोकर खोना क्या ठीक है ? ध्रुव और प्रह्लाद इसी आयु में अपने मनप्राणों को पूर्णतया भगवान में अर्पण कर कृतार्थ हुए थे। यदि इस समय को व्यर्थ गँवाओगे तो सम्भवत: शेष जीवन केवल दु:खपूर्ण दीर्घश्वास लेते हुए ही बिताना होगा। वृद्धावस्था में साधन करने की आशा प्राय: मरुस्थल में जल प्राप्ति की न्याईं व्यर्थ ही होती है। अत: तुम्हें सदा सावधान रहने को कहता हूँ, जिससे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट न हो, और समय एवं शक्ति का दुरुपयोग भी न हो। तुम्हें सुयोग मिला है, सामर्थ्य भी है, इसलिये चेष्टा करने पर ही फल मिलेगा। चेष्टा करना या न करना—यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है।

आज इतना ही।

पुरीधाम।
२५ ज्येष्ठ १३२१ बंगाब्द

७१

ॐ

नारायणेषु !

माँसे (जगन्माता से) प्रार्थना करते रहो। जिससे माँ की कृपा प्राप्तकर सको, उसके लिये उनसे स्नेह पूर्ण याचना बन्द न करना। जब भी समय मिले, माँ से प्रार्थना करना। प्रार्थना करते हुए ही प्रार्थना पूर्ण होगी। एक काम करना—जो अभाव अधिक प्रतीत हो उसीकी पूर्त्ति के लिये प्रार्थना करना। और वह जबतक पूर्ण न हो तबतक दूसरी प्रार्थना नहीं करना। एक ही प्रार्थनाको चालू रखना। अब एक याचना की,—दूसरे समय एक और इससे किसी के लिये भी तुम्हारा जो विशेष अभाव है वह प्रकट नहीं होता। जिस वस्तु के लिये तुम व्याकुल न हो, जगज्जननी उसे अनायास देना नहीं चाहती। इसलिये अच्छी तरह विचार करके प्रार्थना का निश्चय कर लेना चाहिये। ऐसी एक प्रार्थना करनी है जो मंजूर होने पर तुम्हारा मन शान्त हो जाय और अभाव बोध मिट जाय। उसके लिये मां के द्वारपर श्रीतारकेश्वर महादेव के मन्दिरमें रोगियों की न्याईं, पूर्ण काम न होने तक धरना देकर पड़े रहो। बच्चे की कातरतापूर्ण पुकार को माँ कबतक उपेक्षा करेगी ? स्मरण रखना, उनपर ही हमारा शत-प्रतिशत दावा है। जो कुछ आवश्यक हो उनसे ही लेना होगा। उनके

अतिरिक्त और किससे याचना करोगे ? संसार में सभी अल्पाधिक भिक्षुक और दरिद्र हैं। उनसे याचना करने से कितना मिलेगा ? अतः केवल माँ का ही आँचल पकड़े रहो। उनका अक्षय भण्डार सदा ही हमारे लिये खुला हुआ है। अंग्रेजी में एक बात है "Pray and it will be heard. knock and the gate will be opened unto you" अर्थात् (प्रार्थना करो वह सुनी जायेगी, खट्-खटाओ, तो द्वार तुम्हारे लिये खुल जायगा)। यह बात तनिक भी झूठ नहीं है, केवल पकड़े रहना चाहिये। विश्वास के साथ तथा धैर्य एवं अध्यवसाय के साथ पकड़े रहना चाहिये। माँ तुम्हारी बात को सुन रही हैं, इस विषय में संशय नहीं उठाना। 'एक निष्ठाके साथ प्रार्थना करने पर ही मिलेगा', इस बात पर भी अविश्वास नहीं करना। उस मुलर (Muller) साहेब की कहानी तो पढ़ी हो होगी ? केवल प्रार्थना के बलसे ही उन्होंने कितने असाध्य कर्मों को भी सिद्ध कर लिया था। तुम क्यों नहीं कर सकोगे ?

प्रार्थना तो अवश्य करना; और साथ ही हृदय के आवेग से, मन-प्राण से रूदन करते हुए, माँ के साथ बातें भी करनी होंगी। इसके अतिरिक्त जितना हो सके नाम जप भी करना। नाम-जप से असाध्य कार्य भी किया जा सकता है। नाम के प्रभाव से, नामकी शक्ति से तथा नाम की सहायता से समस्त बाधायें एवं समस्त विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

७२

ॐ

नारायणेषु,

तुम्हारा पत्र मिला! अन्यान्य आवश्यक संवादों के साथ वहाँ के जलवायु एवं किस प्रकार का आहार मिलता है, इन विषयों में बहुत शीघ्र ही तुम्हारे एक पत्र पाने की आशा रखता था। मैं तुम्हारे ध्यान के समय में बाधा नहीं डालना चाहता, बल्कि मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो कर्म तुम्हारे भगवद् ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करें उन्हें छोड़ दो, यदि तुम सोचो कि पत्र व्यवहार से तुम्हारी तपस्या में हानि होगी तो आज कल तुम्हें पत्र व्यवहार नहीं रखना चाहिये। मैंचाहता हूँ कि वर्तमान में तुम्हारा सम्बन्ध, व्यवहार केवल माँ (जगन्माता) के साथ ही रहना चाहिये और तुम्हारे मनकी वे ही एकमात्र साथी होनी चाहिये। उन्हीं का चिन्तन, उन्हीं में निवास करो तथा उन्हीं में निमग्न रहो। एक क्षण भी नष्ट न करना, अपनी किञ्चिन्मात्र शक्ति भी नष्ट नहीं करना और सामान्य सुयोग भी नहीं गँवाना एक अदम्य इच्छा, एकान्तिक तत्परता और घोड़े की भाँति प्रबल पुरुषार्थ की भावनाको हृदयमें पोषण करो। स्मरण रखना कि तीन महीने के अन्दर तुम्हें तीन हजार वर्षों के समान एक जीवन व्यतीत करना होगा; नहीं तो प्रतिक्षण कृत्कृत्य होनेके लिये तुम्हें चेष्टा करनी पड़ेगी। एक श्वास तथा एक क्षण भी

व्यर्थ व्यतीत करने पर तुम्हें मृत्यु से भी अधिक दुःख होना चाहिये। सदा सतर्क रहना चाहिये, सदा प्रहरी रखना चाहिये। अपनी शक्ति को प्रकट करने का यही समय है। मानव जिस सुख-शान्ति को प्राप्त करने के लिये व्यग्र होता है उसी को प्राप्त करने का यही सुयोग है। अतः सदा उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते जाओ। प्रतीक्षा मत करो, पीछे मत हटो, संशय मत करो और दीर्घश्वास न लो। अपनी आत्मिक शक्ति को उद्दीप्त करो और कर्म में लगे रहो। माँ तुम्हारे साथ ही हैं। अध्यात्म जगत की सारी शक्ति तुम्हें सहायता देगी तुम देर क्यों करोगे? क्यों पीछे हटोगे? तुमने भारतवर्ष में पुरुष शरीर और ब्राह्मण जन्म लिया है। पुनः तुम शिक्षित एवं शक्ति सम्पन्न युवक हो! अध्यात्म पथ पर चलने की तुम्हारी इच्छा है और जगन्माता ने पहले से ही तुम पर अनुग्रह किया हुआ है। इस असाधारण सुयोग और संयोग को बड़े उत्साह से हृदय में विद्युत की भाँति उद्दीप्त करना चाहिये। जब जगन्माता ने इतने अल्प समय में ही तुम पर अनेक बार कृपा की है और भी अधिक अनुग्रह कर सकतीं हैं क्योंकि उनकी शक्ति की कोई सीमा नहीं है, वे किसी भी मुहूर्त्त में सबसे श्रेष्ठतम आशीषसे तुम्हें अनुगृहीत कर सकतीं हैं अतः प्रतिपल प्रतिक्षण उनकी आशा और प्रतीक्षामें रहो, क्या तुम्हें कभी भी शिथिल रहना चाहिये? क्या तैयार न रहना तुम्हारे योग्य है? किसी भी क्षण में उन्हें भूलना क्या तुम्हारे लिये उचित है? इसलिये सदा उनको स्मरण करो और उन पर निर्भर रहो। सदा इस बात की धारणा करो कि वे सर्वदा ही तुम्हारी सँभाल रख रहीं हैं और तुम्हारा उपकार कर रही है। उन पर निर्भर करने में कुछ भी हानि नहीं है। ऐसा करना ही उच्चतम ज्ञान है। उन्हें आत्मसमर्पण कर दो और

शान्ति से जीवन व्यतीत करो। उनके हृदय से लगे रहो। जब तक उनके दर्शन से अनन्त शान्ति एवं परमानन्द प्राप्त कर कृतार्थ न हो जाओ तबतक तपस्या करते रहो।

जगन्माता केवल दुर्गा या गायत्री के रूप में नहीं किन्तु विष्णु, शिव, राम और कृष्ण के रूप में भी हैं। इतना ही नहीं, वे ही प्रत्येक वस्तु हैं और वे ही सब कुछ हैं। वे ही जगत्-रूप बनी हैं और जगत उनमें रहता है। वे ही समस्त जगत को चला रही हैं। उनकी उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करो और प्रतिक्षण उनके वरद-हस्त को देखते रहो। परन्तु अब मैं यह लिखना बन्द करना चाहता हूँ। तुम्हारे मन को परोक्ष संवादों से भरना नहीं चाहता हूँ मैं चाहता हूँ, कि.... समाहित स्थिति में तुम उनके विषय में अपरोक्ष साक्षात्कार कर लो और मुझे आशा है कि शीघ्र ही तुम अवश्य ही इस स्थिति को प्राप्त कर लोगे।

वृन्दावन
७-४-२०

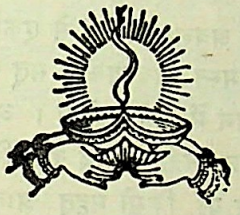

७३

ॐ

नारायणेषु !

जिसको अपनेपर श्रद्धा, अपनी आत्मापर श्रद्धा, अपनी पवित्रता पर श्रद्धा, तथा अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य पर श्रद्धा है, और 'मुझे अच्छा होना ही होगा' इस प्रकार के निश्चय पर श्रद्धा है—उसके हृदय में क्रमशः भगवान में, शास्त्रवाक्यों में, सत्पुरुषों में उच्च-आदर्श में एवं अच्छा होने के उपायों में श्रद्धा प्रकट हो जाती है। कोई-कोई व्यक्ति ऐसा सोचता है कि अपनेपर श्रद्धा-युक्त होने की अपेक्षा भगवान पर श्रद्धासम्पन्न होना सहज और स्वाभाविक हैं। यदि वे भगवान पर श्रद्धायुक्त हो सकें तो अन्य श्रद्धायें उनमें स्वतः ही प्रकाशित होंगीं। श्रद्धा का स्वरूप एक ही है। किसी भी एक सत् पदार्थ (द्रव्य या गुण) का अवलम्बन लेने से एकबार दृढ़ चित्त होने पर क्रमशः अन्यान्य समस्त आवश्यकीय सत् पदार्थों के आश्रय द्वारा मानव को अमृतधाम में पहुँचा देगी। अतः जिसकी अपने पर या भगवान पर श्रद्धा नहीं हैं यदि वह किसी विशेष व्यक्ति पर अथवा सद्गुणों पर या किसी महत् आदर्शपर श्रद्धासम्पन्न हो सकेगा तो वह भी उन्नत होगा। जो लोग अपनी बुद्धि, शक्ति और आत्मा पर श्रद्धाहीन होकर अन्य किसी पर श्रद्धासम्पन्न होना चाहते हैं, उनके हृदय में अपने पर सामान्य श्रद्धा अवश्य

रहती है। अस्तु, इन विचारों से कुछ भी लाभ नहीं है, केवल काम बनना चाहिये। चाहे किसीपर भी श्रद्धा होगी, उसको अनुशीलन या अभ्यास द्वारा बढ़ाना पड़ेगा। जीवन जितना पवित्र होगा, श्रद्धा भी उतनी ही बढ़ेगी। विचार और शास्त्र अध्ययन से श्रद्धा बढ़ती है। कोई-कोई ऐसा अनुभव करते हैं कि प्रार्थना के बलसे भी श्रद्धा बढ़ती है। "जो मनमें ठीक लगे उसे ही करूँगा और जो ठीक न लगे उसे नहीं करूँगा" इस प्रकार की भावना ठीक नहीं है। विचार से जिसे कर्त्तव्य समझोगे उसे मनमें ठीक न लगने पर भी करना ही होगा। और जो कार्य विचार दृष्टि से अकर्त्तव्य निश्चित होता है, वह पसन्द होने पर भी नहीं करना चाहिये। साधारण व्यक्ति के लिये साधारणतः भाव-प्रवणता (Sentiment) की अपेक्षा विचार (Reason) ही सत्-परामर्श देनेवाला (Reason–अपना या किसी अच्छे व्यक्ति का) होता है। पहिले-पहिले मनुष्य (संस्कारवश) पूर्णतया Reason या विचार पर भरोसा नहीं रख सकता है किन्तु पुरुषार्थ और प्रतिज्ञा के बल से अभ्यास के साथ-साथ Reason (विचार) का कर्त्तृत्व प्रतिष्ठित होता है। तभी मन वशीभूत होता है। बुद्धिरूप लगाम से मनरूप घोड़े को वशीभूत करना होगा। निरन्तर सात्विक कर्म (सत्वगुणाश्रित रजोगुण) करते रहने से तमोगुण जितना कम होगा उतनी ही श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान, शान्ति और भक्ति-वे सभी बढ़ते रहेंगे। इति।

विष्णुपुर

७४

ॐ

नारायणेषु ।

तुम वहाँ पर गये हो तपस्या करने के लिये। अहर्निश तपस्या में ही लगे रहने की चेष्टा करना, आहारादि अत्यन्त आवश्यक कर्मों के लिये जितना मन लगाना आवश्यक हो, उतना ही मन उन कर्मों में लगाकर, शेष सम्पूर्ण मनको भगवान में तल्लीन करना होगा। भगवान ही तुम्हारे एकमात्र साथी, एकमात्र अपने हैं, एकमात्र बन्धु तथा एकमात्र अवलम्बन हैं। दूसरे के साथ, तथा दूसरी वस्तु के साथ समस्त सम्पर्क एवं सम्बन्ध यथा-शक्ति विच्छिन्न कर दो। अच्छा और बुरा सबके लिये ही भगवान की ओर दृष्टि रक्खो। दूसरे के द्वारपर मत जाओ या दूसरे की सहयता मत लो। दूसरे की आशा नहीं रखना। अतीत जीवन और साथ ही उसकी सुख-दुःखमय स्मृतियों को पूर्णतया भूलने की चेष्टा करो। इसी क्षणमें तुम्हारा नवजीवन प्रारम्भ हो जायगा। इस जन्ममें केवल भगवानके साथ ही तुम्हारी आत्मीयता एवं प्रेम हो जाय। जो कुछ भी कहना हो उन्हें ही कहो; जो कुछ सुनने का हो, उनसे ही सुन लो; अथवा जो कुछ जानने का हो, उनसे ही जानने की चेष्टा करो। उन्हें ही देखने की, इच्छा रक्खो, उन्हें ही सुनना चाहो, उन्हें

ही जानना चाहो तथा उन्हें ही प्राप्त करने की इच्छा रक्खो। यदि इस प्रकार से जीवन व्यतीत कर सकोगे तभी तुम्हारा हिमालय में जाना सार्थक होगा, एवं तभी तुम सच्चे मनुष्य हो सकोगे, अन्यथा इस प्रकार से जीवन को न तैयार कर यदि अब भी पुराने साथियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहो, तो अतीत और वर्त्तमान जीवन में कोई विशेष भेद नहीं अनुभव कर सकोगे।

सरल बनो, पवित्र बनो, उत्साही बनो, धीरज धरो। और भगवान को प्राणकी बाजी लगाकर पुकारते रहो; समस्त अभाव मिट जायँगे एवं सारी अशान्ति दूर हो जायेगी।

विषाद और अविश्वास, निराशा और नास्तिकता, अश्रद्धा तथा अधीरता—इन सब में भेद क्या है? सोचकर देखना।

तपस्या में लगे रहो, चञ्चलता स्वतः ही मिट जायगी। क्या भगवान विचारहीन हैं?

शिवमस्तु। इति।

देओयाज।
१६-१०-'१८

७५

ॐ

नारायणेषु.

तुम्हारा पत्र मिलने से प्रसन्नता हुयी। प्रलोभन और विघ्न-बाधायें मनुष्यों पर ही तो आती हैं—जड़ पदार्थों पर नहीं। मनुष्यकी भाँति तेज और वीर्य के बलसे उन्हें जीतना ही पड़ेगा। प्रलोभन को पराजित करने की प्रत्येक चेष्टा ही शक्ति में परिणत होकर तुम्हें सहायता देने के लिये तुम्हारे देहमें सञ्चित रहेंगी एवं शनैः शनैः तुम्हें आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर परिचालित करेगी। भगवत्-प्राप्ति की वासनाके साथ-साथ जिसकी आत्मनिष्ठा से उत्पन्न वीर्य सांसारिक भोग विलास में वितृष्णा एवं शारीरिक तथा मानसिक पवित्रता सुरक्षित रहती हैं—उसकी अदम्य इच्छा-शक्ति के तेज से, महेश्वर की आँखों से उत्पन्न अग्नि से कामदेव की भाँति, समस्त विघ्न तथा विपत्तियाँ भस्मीभूत हो जाती हैं। जो साधक भगवान पर निर्भर करता है, भगवान सदा ही उसकी रक्षा करते रहते हैं। क्या तुमने गीता में भगवान की अभयवाणी नहीं पढ़ी ?

"मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि"

"तू मेरे में निरन्तर मन को लगाता हुआ मेरी कृपा से संसार-सागर से तर जायेगा।"

भगवान के प्रति आत्मसमर्पण कर सकने से अन्य और कुछ भी नहीं करना पड़ता। स्मरण रक्खो :—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

समस्त धर्मों का (नित्य नैमित्तिकादिक धर्म कार्य) परित्याग कर केवल मेरी ही शरण लो। मैं तुम्हें समस्त पापों से (नित्य नैमित्तिकादिक कर्मों को न करने से जो प्रत्यवायरूप पाप होता है) मुक्त कर दूंगा, इस विषय में संशय नहीं करना।

भगवान ने और भी कहा है—"न मे भक्तः प्रणश्यति"। "मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता"। तो फिर भय क्या? देह, मन और प्राण को उनमें समर्पण कर अभय होकर आनन्दसे विचरते रहो। वे ही 'योग क्षेम' (प्राप्ति वस्तु का परिरक्षण तथा अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति) वहन करेंगे।

स्मरण रखना, सत्य, सरलता एवं पवित्रता एक ही वस्तु हैं। पवित्र होने पर ही भगवद्दर्शन होगा।

एक ही दिन में सत्य का अभ्यास पूर्ण तया नहीं होता। इसलिये विषादग्रस्त नहीं होना, आगे बढ़ते रहो, पुरुषार्थ और प्रसन्नता के साथ चलते रहो, शुभदिन अवश्य आयेगा आप आनन्दित होंगे, सब इच्छा पूर्ण होंगी।

लछमन झूला
११-११-१३

*

७६

ॐ

नारायणेषु !

पूर्णरूपेण भगवान पर ही निर्भर करो। एकमात्र वे ही तुम्हारा कल्याण करने में समर्थ हैं।

× × ×

इसलिये कहता हूँ, भगवान की ओर ही दृष्टि रक्खो। यदि तुम्हारी सदिच्छा तथा योग्य पुरुषार्थ रहे तो भगवान अवश्य ही तुम्हारे सहायक होंगे, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारी सहायता करेगा। चलते रहो; जितनी शक्ति हैं, उसका सदुपयोग करो। सरलता तथा धैर्य के साथ आगे बढ़ो। समय पर भगवत्कृपा से समस्त विघ्न दूर हो जायेंगे।

तुम्हारी जितनी सामर्थ्य है उतना ही तुमसे आशा की जाती है। उससे अधिक तुम किस तरह करोगे ? चेष्टा करते रहो और प्रार्थना करो। चेष्टा करो और भगवत् कृपा की भीख मांगो।

सरलता तथा पवित्रता के साथ आगे बढ़ते रहो। जान-बूझकर सच्चा-झूठा एक न करना तथा दुर्बलता को भी बढ़ावा न देना। अनेक प्रकार की दुर्बलतायें बहुकाल से एक साथ रहकर तुम्हारी प्रिय बन गयीं हैं। उनके संग का त्याग

करने में स्वभावतः कष्ट होता है। परन्तु और कोई उपाय नहीं है। वीर पुरुष की भाँति तलवार हाथ में लेकर अपनी सर्प से डसी हुई अंगुली को काट देना ही होगा। उन पुराने सगे सम्बन्धियों के संग को छोड़ने से पहिले ही चिन्ता और कष्ट होते हैं, परन्तु छोड़ने से ही आराम और शान्ति मिलती है। विचारपूर्वक मार्ग पर चलते रहना, छोटी से छोटी कमजोरी की भी उपेक्षा न करना। दूसरे कर्त्तव्यों को अच्छी तरह करके जितना अधिक तपस्या कर सको करते रहना।

शिवमस्तु।

श्रीकाशीधाम
१-६-२०

७७

ॐ

नारायणेषु !

यदि तुम अपने को अल्पबुद्धि मान कर पहिले की न्याईं अनुशासन या discipline रखकर थोड़ी धीमी चाल से चलते तो, सम्भवतः आज तुम्हें अधिक उन्नत देखता। कई बार उच्छृङ्खलता पुरुषार्थ के आवरण में, अधर्म धर्म के

वेष में, आलस्य, अकर्मण्यता वैराग्य के वेष में सजकर तथा जड़ता निर्मल शान्ति का रूप धारण कर साधक के जीवन में आते हैं।

धर्म मार्ग में संयम और विचार की आवश्यकता है तथा शास्त्रविधिका अनुसरण करने की भी आवश्यकता होती है, एवं गुरु और ईश्वर पर निर्भर करना ही कल्याणकारी होता है। जिस रहस्यमय मार्ग का कुछ भी ज्ञान तुम्हें नहीं है, उस मार्ग पर चलना प्रारम्भ करके यदि स्वेच्छाचारी हो बन जाओ, तो सफलता की आशा रखना व्यर्थ ही है। अस्तु ! अब भी समय है और अब भी शक्ति एवं सुयोग हैं, अब भी यदि विचारपूर्वक जीवन व्यतीत कर सको तो जीवन को सार्थक करने की सम्भावना रहेगी।

लक्ष्य पर स्थिर दृष्टि रखकर, विचाररूपी मशाल और विश्वास की छड़ी हाथ में लेकर, धीर गति से सतर्कता के साथ गन्तव्य मार्ग पर आगे बढ़ते रहो, भगवत्कृपा से समस्त विघ्न-बाधायें दूर हो जायेंगी।

जब भी अपनी दुर्बलता का अनुभव करो, प्रार्थना करना। उससे कुछ लाभ प्रतीत न होने पर भी विश्वास और प्रार्थना को नहीं छोड़ना। तुम्हारे अनजाने में भी बहुत सफलता मिल सकती है। नियमनिष्ठ बनने की चेष्टा करना और यदि सम्भव हो तो प्रतिदिन गीता के कुछ श्लोकों का पाठ करना।

ॐ

नारायणेषु ।

श्री श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने कहा था पाप की अधिक बातें सोचकर लोग पापी हो जाते हैं, और मुक्ति की बातें सोचकर मुक्त हो जाते हैं। वेदान्तादि शास्त्रों का भी यही सार सिद्धान्त है। बहुत दिनों से नाली में मैल इकट्ठा हो गया है, 'मैल' 'मैल' पुकारकर रुदन करने से मैल साफ़ नहीं होगा। कातरता छोड़ो, उत्साही बनो, और बाल्टी पर बाल्टी पानी लाकर नाली में डालते रहो, निरन्तर पानी के प्रवाह से बहुकाल से सञ्चित मैल साफ हो जायगा। चाहे जल्दी या देर में यदि जल-प्रवाह बन्द न हो तो नाली साफ होगी ही। इसलिये अपनी दुर्बलता के कारण खिन्न नहीं होना। मनुष्य में ही मानसिक दुर्बलता आती है जड़ पदार्थ में नहीं। जो जितने महान् होने के अधिकारी होते हैं उन्हें उतनी ही अधिक विघ्न विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इसलिये दुर्बलता को भूलने की चेष्टा करो एवं सर्वदा मन में सच्चिन्तन का प्रवाह बनाये रखो। वाणी में, कर्म में एवं भावना में सर्वदा पवित्र रहना। कभी भी आलसी न बनना, किसी न किसी पवित्र विषय में ही सर्वदा शरीर को विशेषतः मन को लगाये रखना। 'कु' या बुराई को तुम्हारे अन्दर प्रवेश करने का मौका किस

प्रकार से मिलेगा ? "आजकल मुझमें कुछ भी बुराई नहीं है" इस प्रकार के मनोभाव भी नहीं रखना। किसी प्रकार से भी बुराई की स्मृति जागृत नहीं होने देना। "मैं सत् हूँ" "मैं पवित्र हूँ"—यही सोचते रहो। मन शिथिल होने पर ही बुराई प्रवेश करेगी। इसलिये सदा मनके द्वारपर पहरा रखना। जब भी किसी प्रकार की कुचिन्ता चोर की नाईं धीरे-धीरे मनमें प्रवेश करने की चेष्टा करेगी, उसी समय सावधान हो जाना। ऐसा सोचना "मैं शुद्ध, अपापविद्ध (पापरहित) शान्त तथा निरञ्जन हूँ। मेरे अन्दर अपवित्रता है ही नहीं। यह शरीर भगवान का पवित्र मन्दिर है। इसके अन्दर सर्वदा पवित्रता, मधुरता एवं शान्ति की दिव्य ज्योति विराजमान है। मैं मनुष्य हूँ, मुझमें ब्रह्मशक्ति है, मुझे शैतान कैसे परास्त करेगा? जिन्होंने काम को ज्ञानानल से भस्मसात् किया था विश्व को नाश करने वाला हलाहल विष पिया था, मैं उनका ही शिष्य, उनका ही सेवक, उनका ही पुत्र हूँ; मुझे क्या डर है ?

"मैं शुद्ध बुद्ध मुक्त हूँ" इस प्रकार का चिन्तन करते हुए ही पवित्रता दृढ़ होगी। पवित्रता अर्थात् चित्तशुद्धि ही साधन भजन का लक्ष्य है—पवित्र मन में ही आत्मा का दर्शन होता है।

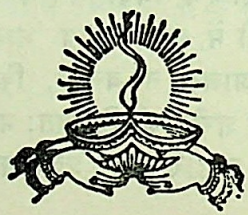

ॐ

नारायणेषु !

कितने ही जगाई-माधाई[1] की भाँति पापियोंका उद्धार हो जाता हैं;—फिर तुम्हारे विषादग्रस्त होने का क्या कारण है। ? प्रयत्न करने पर नन्दीश्वर ने एक ही जन्म में शिवसारुप्प प्राप्त कर लिया था; अतः चेष्टा करने पर तुम भी लक्ष्य को क्यों नहीं प्राप्तकर सकोगे ? चेष्टा करने के लिये एवं सफलता प्राप्त करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है वह तो तुम्हारे भीतर ही है। उसका जितना उपयोग करोगे, उतना ही उसके अधिक विकास तथा प्रकाशको अनुभव करोगे। (सैद्धान्तिक जगत्) को छोड़कर क्रियात्मक जगत्में प्रवेश करो। बातें छोड़कर कर्मी बनो। प्रतिज्ञा करो और उसकी रक्षा के लिये साध्यानुसार पुरुषार्थ करो। सरलता, धैर्य एवं निपुणता के साथ आगे बढ़ो। शीघ्र ही देखोगे शान्तिमय जगत का एक नवीन द्वार तुम्हारे लिये खुल गया है।

अपनी शक्ति को अल्प मानकर निराश न हो। टिट्टिभ पक्षी ने भी समुद्र का शोषण किया था। भगवान ने

---

१. ये श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय में नवद्वीप में (पश्चिम बंगाल) महान दुराचारी दो भाई थे।

तुम्हें जितना थोड़ा सामर्थ्य दिया है, उसके अधिक का पुरुषार्थ वे नहीं चाहते और न चाह ही सकते हैं। तुम्हारे लिये जितना अल्प भी सम्भव हो, करते रहो, शेष वे स्वयं कर लेंगे। अभी भी तुम्हारे सामने कितने सुयोग उपस्थित हैं। अभी से ही नवीन तेज एवं उद्यम के साथ जीवन को तैयार करने के लिये प्रतिज्ञा करो। कर्म में लगे रहो। प्राण की बाजी लगाकर विघ्नों को हटाने के लिये चेष्टा करो। रथाङ्गपाणि तुम्हारे सहायक होंगे फिर भय क्या है ?

शिवमस्तु इति।

स्वर्गाश्रम।
३०।७।'२०

८०

ॐ

नारायणेषु !

ध्यान में जिसको इष्टमूर्त्ति स्पष्ट नहीं भासती, उसके लिये कभी-कभी इष्टमूर्त्ति का चित्र देखना, उसे देखते हुए जप करना, उस चित्र की सहायता से ध्यान करना, उस चित्रकी मानसिक पूजा करना, उस चित्रको नाना वेष से भूषित करना, कुछ समय तक उस चित्र को या उसके किसी अंग-प्रत्यंग की ओर ध्यानपूर्वक देखते रहना, मन ही मनमें चित्र के साथ बातें करना ये सब अनुष्ठान अच्छे ही हैं। कुछ क्षण आँखें

मूँदकर इष्टमूर्त्ति का चिन्तन करते रहना, पुनः उस चित्रपट को या उसके किसी अंश को देख लेना और मन ही मन उसका ध्यान करते रहना—इस प्रकार भी कर सकते हो। अपने कमरे में सर्वदा इष्टमूर्त्ति का एक चित्र रखना अच्छा है। यदि हो सके तो उस चित्र को फूल, पत्ते या कागज से अच्छी तरह सजाकर रख देना। हम तो भगवान के सौन्दर्य को नहीं देखते इसलिये सौन्दर्य के भिखारी हम, बाह्य अलंकारों के बोझ से ही सौन्दर्य बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। जो समस्त सौन्दर्य की खान हैं, जो "सौम्यात् सौम्यतराशेषा सौम्येभ्यस्त्वति सुन्दरी" उनके विषय में भी हमारा एक-सा ही नियम है।

अब साधु-संग के विषय में कुछ लिख रहा हूँ। साधु-संग तो अवश्य करना होगा। किन्तु इस विषयमें सावधान रहना आवश्यक है। जैसे शास्त्र नाना प्रकारके होते हैं, साधुओं के उपदेश भी उसी प्रकार नाना प्रकार के होते हैं। इसलिये साधुओं से उपदेश सुनने के समय उनमें से जितना तुम्हारे साधन तथा प्रकृति के अनुकूल हो, उतना ही ग्रहण करना। शेष तुम्हारे लिये नहीं है ऐसा सोचकर उसे छोड़ देना। ऐसा न कर यदि प्रत्येककी ही सारी बातें सुनना तथा जानना चाहोगे तो कठिनाई बढ़ जायेगी।

८१

ॐ

नारायणेषु !

तुम्हारा पत्र मिला। एक व्यक्ति की दैनिक आय एक रुपया मात्र है, किन्तु उस पर कर्ज है पाँच सौ रुपय का। कर्ज के कारण वह बहुत ही बेचैन है। उसने यह निश्चय किया कि धनी को प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा लौटाकर वह ऋण से मुक्त हो जायगा। जिस दिन कुछ भी नहीं दे सकेगा, उस दिन उसे बहुत अपमान और उत्पीड़न सहन करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में उसे क्या करना चाहिये ? तुम अवश्य कहोगे, 'उसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिससे उसकी आय एक रुपयेसे अधिक हो जाय, तभी वह अपना दैनिक खर्च पूरा करके प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा ऋण चुका सकेगा। इस तरह जब तक पूरा ऋण न लौटाया जा सके, तब तक उसे थोड़ा-बहुत कष्ट तो उठाना हीं पड़ेगा। समस्त ऋण चुकाने पर किसी प्रकार की अशान्ति नहीं रहेगी'। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पर उसके पहिले किये हुए अन्याय कर्मों का सञ्चित-फलरूप ऋण रहता है, उसका परिशोध न होने तक शान्ति नहीं मिलती। दुर्बलता और पूर्वाभ्यास से विवश होकर प्रतिदिन जो अन्याय कर्म किया जाता है वही दैनिक खर्च है और उससे शक्ति एवं शान्ति में कमी आती है, अतः अतः शान्ति के इच्छुक व्यक्ति का कर्त्तव्य

यह है कि प्रातःकाल धैर्य एवं अध्यवसाय के साथ इतनी मात्रा में पवित्र चिन्तन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करे जिससे दैनिक कुकर्मों के फलको यथा सम्भव कम कर पूर्व सञ्चित कुसंस्कारों को कुछ अंश में नष्ट करने में समर्थ हो जाय। अतः सावधान रहना चाहिये, जिससे किसी प्रकार से भी किसी दिन सत्कर्म और पवित्र चिन्तन की अपेक्षा कुअभ्यासों का अधिक पोषण न हो। पहिले कुछ कष्ट अनुभव होता है। किन्तु प्रतिज्ञा के बल, प्रार्थना का सामर्थ्य एवं धैर्य और पुरुषार्थ की सहायता से जितना आगे बढ़ोगे उतना ही मार्ग सुगम होगा। क्रमशः तुम्हारे कुअभ्यास और कुचिन्तन कम होंगे और पश्चात् पवित्रता प्रतिष्ठित होगी। अतः जितना अधिक समय सम्भव हो, पवित्र भावना की रक्षा करो। असद् ग्रन्थों का पाठ, विषयों की चर्चा, कुसंग, और जिससे मन बुराई की ओर प्रवृत्त हो, उसे सर्वथा परित्याग करना होगा। जैसे वीर क्षत्रिय हँसते हुए युद्ध क्षेत्र में नश्वर देह को त्याग करके सुख-शान्तिमय स्वर्गधाम को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार तेजस्वी साधक जीवन संग्राम में प्रफुल्लित मन से बुरे संस्कारों का परित्याग कर शान्ति प्राप्त कर लेता है। प्रतिज्ञा करना 'किसी प्रकार से भी अन्यान्य कर्म नहीं करूँगा' यदि दुर्बलता के कारण कभी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाओ तो उसी क्षण भगवान से क्षमा याचना करके पुनः नवीन प्रतिज्ञा करो। यदि दो बार में सफलता प्राप्त न कर सको तो तीन बार या जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार प्रतिज्ञा करो। अन्त में अवश्य सफलकाम बनोगे। प्रतिदिन नियत समय पर अवश्य साधन करना। मिथ्या व्यवहार नहीं करना तथा आलस्य सर्वथा परित्याज्य है। दिन में सोना अच्छा नहीं है। सर्वदा सरल और पवित्र रहने की चेष्टा करना।

जितना अधिक समय सम्भव हो भगवान् का स्मरण करना। सम्भवतः आजकल तुम फुट-बाल नहीं खेलते हो। उसे और कभी नहीं खेलना अपने कर्त्तव्य कर्मों का नियत समय पर नियमानुसार सम्पादन करना। कदापि उद्दण्ड नहीं बनना। इस तरह कुछ समय चलते रहो, भगवत् कृपासे शुभ दिन आवेगा। अन्यथा चिन्तन होने लगे तो उसके कारण घबराना नहीं। जब भी कुचिन्तन आक्रमण करें उसे उसी समय निकाल देना और सच्चिन्तन करते रहना। इसी तरह करते रहो, अन्त में अन्य चिन्तन और होगा ही नहीं। स्वप्नदोष के विषय में भी उद्विग्न न होना। उसे पसीना, मल या मूत्र की न्याईं तुच्छ समझना और उसे भूल जाना। तुम्हारे अन्दर कुभाव या दुर्बलता है इस प्रकार चिन्तन भी नहीं करना। श्रमशीलता, पवित्रता एवं सरलता की रक्षा करना—शान्ति मिलेगी। आज इतना ही।

कनखल
२९-६-१९१६ ई०।

ॐ

नारायणेषु !

जितना अधिक समय सम्भव हो, विद्याभ्यास करना। विद्याभ्यास भी एक प्रकार की तपस्या है और विद्यार्थियों के लिये वही श्रेष्ठतम तपस्या है। मेरे विचार से भलीभाँति विद्याभ्यास न करके एवं कर्त्तव्यनिष्ठ तथा नीतिपरायण न बनकर केवल ध्यान-जप के द्वारा उन्नति करना तुम्हारे लिये कठिन है।

मिथ्या के समान दुर्बलता और कुछ भी नहीं है। सत्यस्वरूप भगवान को प्राप्त करने के लिये पूर्ण पुरुषार्थ से सत्यका अवलम्बन लेना ही पड़ेगा। "सफलता या असफलता की चिन्ता नहीं करूँगा, प्राप्ति या अप्राप्ति का विचार नहीं करूँगा। मन और वाणी से सदा एक हूंगा, सत्य को प्राण देकर भी पकड़कर रखूँगा"—यही सत्यपरायण की दृढ़ प्रतिज्ञा होती है। मिथ्या की प्रतिष्ठा 'आसक्ति में' है और सत्य की प्रतिष्ठा 'त्याग में'। आसक्ति ही बन्धन और दुःख का मूल है। और त्याग ही अमृतत्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। झूठ क्यों बोलते हो ? साधारणतः तिरस्कार, अपमान या शारीरिक कष्ट से बचने के लिये ? क्या सत्य के लिये, उन्नति के लिये, मानवता

के लिये एवं सर्वोपरि भगवान के लिये इतना सहन नहीं कर सकते ? फिर श्रेष्ठ बनने की तुम्हारी लालसा भी कितनी है, और भगवान पर प्रेम भी कितना है ? प्रह्लाद ने भगवान के लिये कितने दुःख सहन किये। हरिदास [1] ने कितने कष्ट उठाकर भी अपने धर्म की रक्षा की थी। राममोहन [2] बाल्यावस्था में ही सत्यपरायणता के कारण गृहत्याग करने को बाध्य हुए थे।

खेद की बात है, तुम उन महापुरुषों के देश में जन्म लेकर और उनकी जीवनधारा का अनुसरण करने की चेष्टा करते हुए, पवित्र ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले, सत्य की रक्षा के लिये अति सामान्य शारीरिक तथा मानसिक क्लेश को भी सहन करने को तैयार नहीं ? जिस देश के प्रत्येक घर में अब भी रामायण पाठ होता है उसी देश का एक ब्राह्मण युवक क्या सत्यके लिये तुच्छ प्रलोभनका भी दमन नहीं कर सकता ? क्या तुम्हारी इस प्रकार की दुर्बलता लज्जा का कारण नहीं है ? तुम्हारा मिथ्याचार क्या पवित्र आर्यधर्म तथा पुण्यभूमि भारतवर्ष को कलंकित नहीं करता ? "भारतवर्ष के लोग झूठी बातें नहीं जानते"—यह वचन विदेशी पर्यटकों के पुरातन मन्तव्य अभी भी इतिहास के पन्नों से सर्वथा मिट नहीं गये। अत्यन्त खेद की बात है हम उन सत्यपरायण ऋषियों के कुल में जन्म लेकर अपने देश के लिये, जाति के लिये आजकल किस

---

१. श्रीचैतन्य महाप्रभु का एक अनन्य भक्त थे जो पहिले जीवन में हरिजन थे।

२. वे बंगाल में ब्राह्म धर्म के प्रचारक, राजा राममोहन राय नाम से प्रख्यात थे।

प्रकार की ख्याति पा रहे हैं। इन सब विषयों पर ध्यान दो, अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखो और सच्चे मनुष्य की भाँति, तथा पूर्वजों की भाँति, सत्य मार्ग पर कर्त्तव्य के मार्ग पर तथा भगवद् मार्ग पर, आगे बढ़ो। पीछे की ओर दृष्टि मत डालो, इधर उधर दृष्टि मत फैलाओ, लाभ हानि की चिन्ता भी न करो। सत्य के लिये ही सत्य है, कर्त्तव्य के लिये ही कर्त्तव्य है एवं भगवान के लिये ही भगवान है। आगे बढ़ो, प्रतिज्ञा करो और प्रयास करो—भगवान सहायक बनेंगे।

जो सत्यवादी नहीं हो सकता। उसके लिये दूसरे उपदेश व्यर्थ हैं, एवं जो सत्यवादी हो सकता है उसके लिये भी दूसरे उपदेश व्यर्थ हैं!

शिवमस्तु इति।

तेतुलतला, वर्द्धमान।
१७ वैशाख १३२४ बंगाब्द

८३

ॐ

नारायणेषु !

पत्र मिला। भगवत् प्रसंग का क्या कोई अन्त है ? जितना ही कहोगे उतना ही कहने को अवशेष रह जायगा। किन्तु अधिक सुनने से क्या लाभ ? पत्र मिलने पर यदि वास्तव में कुछ लाभ होता है तो जो पत्र मिले हैं वे ही बहुत हैं।

बातें सुनकर क्या लाभ है ? कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। मन-प्राण से कर्म में लगे रहना चाहिये। आज बंगाब्द समाप्त हुआ है। कोई-कोई सम्भवतः ऐसा सोच रहा है आयु एक वर्ष बढ़ गई और साथ ही कितनी अभिज्ञता भी बढ़ी ! और कोई सोचता है आयु का एक वर्ष कम हो गया। किन्तु थोड़ा-थोड़ा करके, न जानते हुए, साधन का समय जो एक वर्ष घट गया और उसके साथ ही साधन के सुयोग भी बहुत परिमाण में बीत चुके, इस विषय पर कितने व्यक्ति विचार करते हैं ? अतः प्रत्येक मुहूर्त्त को भगवत् सेवा में लगाना चाहिये। और भी एक बात है, जब तुम भगवान से विमुख होगे, तथा साधन-संग्राम को छोड़कर विश्राम की ओर ध्यान दोगे, तभी तुम्हारे पतन की आशंका रहेगी। अर्जुन के एक क्षण

असावधान होने पर ही भीष्मपितामह उसके दस हजार सैनिकों का संहार कर देते थे। इस बात को स्मरण रखना और सदा सतर्क रहना।

कनखल
१३-४-'१४

८४

ॐ

नारायणेषु।

किसके लिये उपाय (जीवन सुधार का मार्ग) नहीं है? "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्तिं परां गतिम्" (गीता) अर्थात् स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र भी परमगति को प्राप्त कर सकते हैं। वैद्यराज ने समस्त व्याधियों के लिये औषधियों की व्यवस्था की है। योग्य रीति से औषधि का सेवन करने से, कोई जल्दी अथवा कोई देर में रोगमुक्त होगा ही।

जो क्षय रोगग्रस्त रोगी अपने को मृत्युग्रस्त नहीं समझता, उसके निरोग होने में देर लगती है, परन्तु जो रोगी अपनी व्याधि की भयंकरता को अनुभव करता है, मृत्यु को

अवश्यम्भावी मानता है, और विषयों का कुपथ्य मानता है, उसका रोग अधिक दिन नहीं रह सकता। इन दोनों कोटियों के बीच में रहने वाले रोगी अवस्थानुसार अल्प या अधिक समय तक रोग का कष्ट अनुभव करते हैं। आशा करता हूँ कि तुम्हें अपनी व्याधि के विषय में ज्ञान है।

उपायों की क्या कमी है? यदि तुम पुरुषार्थी बन सको तो पूर्ण प्रयत्न से अपने सारे सामर्थ्य को धर्म में लगा दो। तुम्हारी सेवा दीनता की भावना से पवित्र बन जाय। वह अभिमान से कलंकित न हो। तुम्हारी प्रेम पूजारूप उपकरणों से पुण्यमय हो, स्वार्थपरता से कलंकित न हो। तुम्हारा धर्म एवं सदाचार आत्मोन्नति के लिये हो न कि लोक प्रदर्शन के लिये। भगवान को प्रसन्न करने के लिये ही सब कर्म करना, लोगों की प्रसन्नता के लिये नहीं। समस्त कर्तव्य करने से पहिले भगवत्स्मरण करना और कर्त्तव्यों को ठीक समय पर भलीभाँति करने की चेष्टा करना। यदि इसप्रकार से कुछ समय व्यतीत कर सकोगे तो अवश्य ही विवेक वैराग्य एवं भक्ति प्राप्त कर सकोगे। उसके पश्चात् जो कुछ होगा आज उसकी आलोचना व्यर्थ है।

परन्तु यदि पुरुषार्थ का मार्ग पसन्द न आवे, तो पूर्णतया निर्भरशील होने की चेष्टा करो। अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करने की चेष्टा करो। तुम्हारे लिये जो कुछ आवश्यक है—चाहे वह तुच्छ से तुच्छ सांसारिक-सुख हो या पूर्णतृप्तिरूप ब्रह्मानन्द, उन सभी के लिये सर्वप्रकार से एकमात्र भगवान पर ही निर्भर रहने का अभ्यास करो। दूसरे के द्वार पर मत जाना। यदि इस प्रकार से अल्प समय भी साधन कर

सको तो जल्दी ही शान्ति का प्रकाश पास ही भासेगा। तत् पश्चात् जो होगा स्वयं ही अनुभव करोगे।

यदि इनमें से किसी भी एक मार्ग का पूर्णतया आश्रय न ले सको और कभी इसे और कभी उसे पसन्द करो अर्थात् कुछ दैव और कुछ पुरुषार्थ का आश्रय लेने की इच्छा हो, तो जब जिस प्रकार की भावना उठे, उसी प्रकार का साधन अपनाना। सम्भवतः कभी-कभी दूसरेके परामर्शकी आवश्यकता भी हो सकती है, तो जिस प्रकारकी जिसे आवश्यकता होती है, उसे वह अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

इच्छा तो होती ही नहीं और होने पर अधिक दिन स्थिर नहीं रहती, वह तो प्रतिकूल इच्छा के अन्दर ही डूब जाती है।

मनुष्य दो एक बूंद आविल* मधु (क्षणिक सुख सामग्री) का संग्रह करने की चेष्टा को ही समय-समय पर परम पुरुषार्थ मान लेता है। जगत् और जीवन को सुधामय और सुखमय मान बैठता है—ये सब व्याधि हैं और इन सभी की औषधि भी है। अनुसन्धान करने पर एवं उत्कट इच्छा रहने पर ही औषधि मिल सकती है। जगत् का यही नियम हैं कि अपनी इच्छानुसार सदा कार्य नहीं बनता। अपनी इच्छानुसार सभी कार्य न बने तो उससे कुछ हानि नहीं हैं। केवल इच्छा रहने पर ही बहुत लाभ होगा। आशा करता हूँ कि वह इच्छा सम्भवतः तुम में है।

छपरा
२४-४-'१८

* अखिल मधु की कहानी वेदवाणी प्रथम प्रचार ३४ पृष्ठ पर है।

८५

ॐ

नारायणेषु ।

परीक्षा समाप्त होने पर तुम खाली हो जाओगे, उस समय दो कार्यों में अधिक ध्यान देना। एक सद्-ग्रन्थों के पठन में और दूसरे तपस्या में। कब कौन-सा कर्म करना होगा इसका एक नियम बना लेना, और तदनुसार कर्म करने का प्रयत्न करना। तपस्या के लिये जितना अधिक समय लगाना सम्भव हो उतना लगाना। तत्पश्चात् अधिक समय सद्-ग्रन्थों के पठन में लगाना। जिन पुस्तकों के अध्ययन से नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सके उन्हीं को पढ़ना। केवल पढ़ने से ही उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। पुस्तकों के सुन्दर विषयों का जीवन में प्रयोग करने की चेष्टा भी करनी होगी। जब किसी महापुरुष का जीवन चरित्र पढ़ने लगोगे उनसे अपनी तुलना करना। श्रेष्ठ होने के लिये तुम्हें क्या आवश्यक है और क्या करणीय, इसकी भी चेष्टा करनी होगी और तदनुसार जीवन के गठन में ध्यान देना होगा। जब अकेले टहलने जाओ तब ध्यान रखना कि तुम्हारे मन में सच्चिन्तन का ही प्रवाह चले। जब तपस्या न कर सको या सद्-ग्रन्थ भी न पढ़ सको, तब मनको किसी सच्चिन्तन में लगाना। तपस्या भी एक प्रकार की नहीं होती और सच्चिन्तन भी एक प्रकार का नहीं होता।

तपस्या के लिये जैसे कभी नाम जप, कभी ध्यान कभी मानस पूजा, कभी प्रार्थना, कभी संगीत इत्यादि का अनुष्ठान किया जाता है, उसी प्रकार 'अमुक व्यक्ति किस तरह इतना महत् हुआ' ? 'अमुक व्यक्ति ने धर्म के लिये तथा जगत् के लिये कितना त्याग किया है' 'श्रेष्ठ होने के लिये मुझे भी वैसा ही करना और होना आवश्यक है'। मैं अवश्य श्रेष्ठ बनूंगा। और श्रेष्ठतम होने के लिये प्राणों की बाजी लगा दूंगा, इन विचारों का मनन करना चाहिये।

'इतने व्यक्ति अच्छे हुए, और मैं नहीं हो सकूंगा' ? 'मैं सबसे पीछे रह जाऊँगा' ? 'चाहे किसी प्रकार से भी हो, इन दोषों को हटाना ही पड़ेगा'। 'भगवान की कितनी दया है, 'भगवान के लिये अमुक भक्त की कितनी व्याकुलता है', 'जगत् में दुःख-दुर्दशा का अन्त कहाँ है ? 'जगत् की सेवा करने के कितने सुयोग मुझे मिले हैं।' 'मैंने कितना समय व्यर्थ गंवाया है। अब फिर सुयोग नहीं गँवाऊँगा। 'किसी भी प्रकार से किसी के प्रति हिंसा, घृणा या विद्वेष भाव का पोषण नहीं करूँगा'—ऐसे या दूसरे विविध विचारों का चिन्तन कर सकते हो। जितना ही परार्थ एवं परमार्थ का चिन्तन करोगे, उतना ही उन्नत होवोगे और जितना ही कुचिन्तन करोगे उतना ही पतनोन्मुख होवोगे इसलिये सदा सावधान रहो जिससे कभी भी कुचिन्तन मनमें न उठे। सच्चिन्तन में भी धर्म चिन्तन की शक्ति अधिक है। अतः जितना अधिक समय तपस्या की भावना को सुरक्षित रख सको उसके लिये प्रयत्न करना, 'धम्म-पद' का (भगवान बुद्धदेव के उपदेश व शिक्षायें जिसमें है) अनुवाद आत्मोत्सर्ग, भक्तमाल, अमिय निमाई चरित अभिताभ, अमृताभ (बंगला-कविता में लिखा हुआ श्रीबुद्धदेव का जीवन-

इतिहास) तापसमाला प्रभृति ग्रन्थों का अध्ययन करने की चेष्टा करना। कुछ भी न्याय-विगर्हित कर्म करने से अनुतप्त होना और उसके कुफल के विषय में विचार करना एवं और कभी नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा और विचार करना। पुनः उस प्रकार के प्रलोभन आ जायँ तो क्या करना होगा, उसका निश्चय कर लेना और भगवान से कृपा याचना करते रहना। पहिले से ही सावधान रहोगे तो प्रलोभन के समय में भी अडिग रह सकोगे। यदि प्रथम प्रयास में असफल भी हो जाओ, प्रलोभन को परास्त करने की शक्ति बढ़ेगी। जितना अधिक नियमनिष्ठ बनोगे, जितना अधिक तपस्यामें ध्यान लगासकोगे, उतना ही आत्मबल बढ़ेगा और दुर्बलता भी कम होती जायेगी। इस नियम पर अभी चलते रहो। अपनी दुर्बलता के विषय में सोचकर खिन्न मत होना। तुमसे भी अधिक दुर्बल व्यक्ति उन्नत हुए हैं। निराशा और अवसाद से ही हानि होती है। कोई निराश होने पर चेष्टा भी नहीं कर सकता और अपने को सुधार भी नहीं सकता। यदि उद्यम तथा उत्साह रहे, तो प्रयत्न करते हुए धैर्य एवं अध्यवसाय के साथ दुर्बल व्यक्ति भी सबल हो सकता है। निराशा ही मृत्यु है। इसलिये कहता हूँ—उत्साहहीन मत बनो, डरो मत, चलते रहो। कर्म करते रहो सफलता अवश्य मिलेगी।

शिवमस्तु इति।

श्रीवृन्दावन धाम

३।४।१९२० ई.।

ॐ

नारायणेषु !

पत्र, मिला, केवल एक दिन धूप में बारह मील चलकर ही जो हल्ला मचा देता है, उसके समग्र जीवन की कातरता को सम्भवत: समाप्त नहीं किया जा सकता। केवलमात्र सत्रह वर्ष के ही तो हो। जीवित रहोगे, तो कितनी दौड़ धूप, कितनी कूद-फाँद कितना हा-हाकार तथा और भी कितने प्रकार के अभिनय करने होंगे ! यदि अभी से सहन करने का अभ्यास करोगे तो इस संसाररूप मरुस्थल के सुदीर्घ मार्गपर चल सकोगे, अन्यथा सहिष्णुता और अध्यवसाय का अवलम्ब न रहने से इस जीवनपथ की यात्रा में बहुत ही उलझनें भुगतनी पड़ेंगी। सहन शक्ति सब गुणों से बढ़कर हैं। संसार में जो अधिक सहन कर सकता है वही जयी होता है, 'हा हतोऽस्मि" करने वालों के लिये यह स्थान नहीं है।

संसार के सभी स्थान माता-पिता की गोद नहीं हैं। जिस नवीन परिस्थिति में पड़ चुके हो, उसी से भविष्य जीवन के विषय में अनुमान कर लो, कितने ही परिवर्तन आवेंगे नवीन देश में, नवीन लोगों के सान्निध्य में, नवीन कर्मक्षेत्र में, नई-नई सुविधा और असुविधाओं में बहुत समय बिताना होगा।

जब जिस स्थान में जैसे रहना पड़े अपनी प्रकृति को भी तद्-नुकूल बना लेना चाहिये, अन्यथा जीवन में अशान्ति अनिवार्य है। जो केवल एक ही प्रकार के आहार का अभ्यासी हैं, एक ही प्रकार के बिछौने पर सो सकता है एवं एक ही ढंग का जूता पहिन सकता है, उसके लिये असुविधा सर्वत्र ही होगी। परन्तु होना चाहिये जब जैसा, तब तैसा। नये परिवर्तन के सुर में अपना सुर मिला लो। किन्तु उस प्रकार मिलान करते समय अपना मनुष्यत्व तथा अपने लक्ष्य को छोड़ना नहीं। अपने स्वभाव में जो कुछ सत् तथा शुभ हैं उनके साथ जितना परि-वर्तन का अंश मिल सके, उतना ही मिला लो। दूसरे के मन को जितना कम दुःख दो। और तुम्हारी अपनी विशिष्टता दूसरों की दृष्टि से जितना अधिक गुप्त रहे, उतना ही अच्छा है। बाहर मिल-जुलकर रहो किन्तु अन्दर अकेले ही रहना।

× × ×

समयनिष्ठा और नियमनिष्ठा के बिना मनुष्यत्व की प्राप्ति कठिन है। सदा बुरे को छोड़कर भले का अनुष्ठान करना, और वह भी तुमसे जितना अधिक भलीभाँति किया जा सके उतना ही करना। अवहेलना नहीं करना। नये स्थान में गये हो, जिससे शिष्टाचार के नियम सुरक्षित रहें, उनका ख्याल रखना। ऐसा ध्यान रखना। जिससे तुम्हें देखकर तुम्हारे पूर्व निवास स्थान एवं पूर्व परिचित व्यक्तियों को तथा तुम्हारे माता-पिता और शिक्षक मण्डली को लोग अयोग्य न मानें। आज इतना ही।

शिवमस्तु।

कलकत्ता
१ ला माघ।

*

८७

ॐ

नारायणेषु !

भरसक तपस्या करने की चेष्टा करो। शेष श्रीभगवान हीं कर देंगे। भय किस बात का ? उत्साह के साथ आगे बढ़ते रहो। सामने ही अमृत का झरना बह रहा है, और तुम उसके अधिकारी हो। क्या अपने इस अधिकार को व्यर्थ गँवाकर तुम स्वेच्छा से मृत्यु का आलिंगन करोगे ? किस भय से भीत होकर एवं किस प्रतिबन्ध के कारण बाध्य होकर तुम अपने वरणीय महान् आदर्श से च्युत होगे ?तुम्हारा शत्रु कहाँ है, और कहाँ हैं तुम्हारा विघ्न ? क्या सामान्य कुछ जड़ कणिकायें तुम्हें बाँध सकती हैं ?क्या गोपद गढ़ेका जल तुम्हें डुबो सकेगा ? अपने को भूलना मत। अपनी शक्ति और सुयोग को विस्मृत न करना छाया को भूत मानकर भयभीत न होना। भौंह तानकर खड़े हो जाओ—पाँचों विषय(रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध) भाग जायँगे, काल्पनिक बन्धन टूट जायगा और मोहान्धकार मिट जायगा। थोड़े से धैर्य, साहस एवं वीरता से ही आसक्ति मिट जाती है। कितने लोग श्रद्धारूपी तलवार से संसार बन्धन को काटकर आत्माराम हुए हैं और तुम नहीं हो सकोगे ? इच्छा करो, इसे बढ़ाओ। इच्छा होने पर वैराग्य प्राप्ति में

कितना विलम्ब होगा ? इच्छा रहने से किसी वस्तु की प्राप्ति में कितनी देर लगेगी ? इच्छा को जगाओ, उसे जागृत रक्खो और परिपुष्ट करो। आज इतना ही।

शिवमस्तु इति।

जुनगा शिमला पहाड़।
७।६।२१

८८

ॐ

नारायणेषु।

तुम्हारे दोनों पत्र मिले। एक ही पत्र में तुम्हारे समस्त प्रश्नों का उत्तर सम्भव नहीं है। अतः इस पत्र में केवल ज्ञातव्य स्थूल विषयों का प्रसंग ही उठाऊँगा। इसे पढ़कर कुछ समय चिन्तन करने पर सम्भवतः तुम अपने संशयों का समाधान स्वयं कर सकोगे।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दुःख कोई नहीं चाहता। सभी पूर्ण तृप्ति को चाहने वाले एवं पराशान्ति के भिखारी हैं। प्राणी जगत् के इस ध्येय या आकांक्षा के विषय

में सम्भवतः कहीं भी विरोध नहीं है। इस उद्देश्य सिद्धि के लिये भी सर्वदा जगत् में दौड़धूप कर रहे हैं। दौड़धूप तो सभी करते हैं किन्तु अधिकतर लोगों की (बुद्धि जीवी मानव समाजमें भी) आशायें अपूर्ण ही रह जाती हैं। सुख की लालसा से हम जिन भिन्न-भिन्न मार्गों का आश्रय ले रहे हैं वे हमें दुःख समुद्र में ही पहुँचा देते हैं। परिणाम यह है, कि दुःख की निवृत्ति भी नहीं होती और दौड़धूप भी कम नहीं होती। हमारी दुर्दशा को देखकर "मातेव हित कारिणी" श्रुतिदेवी, शान्ति प्राप्ति के लिये जिस मार्ग का निर्देश करती हैं, उसे हम पसन्द नहीं करते, न हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट होता है। जो भाग्यशाली व्यक्ति शास्त्रनिर्दिष्ट मार्ग में चलकर पूर्णतृप्ति के आस्वादन में सफलकाम हुए हैं, उनके दृष्टान्त तथा आह्वान में भी हमारा विश्वास नहीं होता। हमारी अपनी बुद्धि तथा संस्कार के अनुसार हममें से प्रत्येक ही अपने लिये भ्रान्त मार्ग का अनुसरण करने के कारण दुःख से जन्मान्तर में पतित हो रहे हैं। यही है साधारण मानव की स्थिति। ऐसी स्थिति में शान्ति के इच्छुक मनुष्य का कर्त्तव्य है—कि वेदविहित मार्ग का आश्रय ग्रहण करना, आप्तकाम सज्जनों का अनुवर्तन तथा प्राण की बाजी लगाकर भगवत् प्राप्ति के लिये चेष्टा करना।

वे भगवान कौन हैं जिनकी प्राप्ति से ही हमारी दौड़धूप चिरकाल के लिये मिट जायेगी? भगवान अनन्त आनन्द के उत्स, पराशान्ति के झरने तथा पूर्णतृप्ति के अक्षय भण्डार हैं। उन्हें मिलने से अभाव क्यों रहेगा? उन्हें मिलने से दुःख की निवृत्ति क्यों नहीं होगी? वे ही तो मेरा "प्रभवः प्रलयस्थानंनिधानं बीजमव्ययम्"; वे ही मेरा पूर्णत्व है 'तथा वे ही मेरा स्वरूप हैं।' उन्हें छोड़कर मैं किस तरह अपने अस्तित्व

की रक्षा कर सकूँगा। उन्हें छोड़ देने से तो मैं निर्जीव, निस्तेज तथा शक्तिहीन हो जाता हूँ। उन्हें खो देने से ही तो मेरी चञ्चलता तथा हा-हुताश बढ़ जाते हैं। उन्हें प्राप्त करने पर ही मेरे मनुष्यत्व का पूर्ण-विकास होगा, समस्त बन्धन टूट जायँगे तथा समस्त भय मिट जायँगे।

अच्छा, उन्हें किस तरह प्राप्तकर सकूँगा ? उन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनमें आत्म-विसर्जन करना तथा इस के लिये आवश्यक है पूर्ण मन से उनका चिन्तन करना और उसी तरह उनसे प्रेम करना। किन्तु यह तो बहुत कठिन काम है—असम्भव उपदेश है ! नहीं, यह कठिन नहीं, असम्भव भी नहीं। यह प्रयत्न साध्य है एवं सम्पूर्ण चेष्टा साध्य है। श्रीभगवान ने कहा है वे ही हमारे "गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद" तब क्यों उनसे प्रेम नहीं कर सकेंगे ? क्यों उनके समीप आत्म-निवेदन नहीं कर सकेंगे ? संसार की विषयोद्गारी क्षण-विनाशी वस्तुओं से प्रेम रख सकते हैं और जो "अपने से भी अपने हैं-उस चिरसुहृद को, परम कल्याणमय को तथा परम प्रेमास्पद को, मनप्राण समर्पण नहीं कर सकेंगे ? जन्म-जन्मान्तर के प्रयत्न से, नाशवान से प्रेम करना सीखे हैं; कुछ काल चेष्टा करो भगवान में भी अनुराग उत्पन्न होगा। उस अनुराग की शक्ति से अल्पकाल में ही उन्हें प्राप्त कर सकोगे।

विषय का चिन्तन करते हुए जैसे विषय में आसक्ति हुई है, उसी प्रकार भगवच्चिन्तन करते हुए भगवान में अनुराग उत्पन्न होगा। अपने मन का एक तोला भर भी तो तुमने अपने भण्डार में सञ्चित नहीं रक्खा ?

सम्पूर्ण मनको तुमने तो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श

एवं शब्द में ही लगा दिया है! मनके उन व्यर्थ बिखरे हुए अंशों को प्रयत्न से बटोर लो और सम्पूर्ण मन को श्रीभगवान के पादपद्मों में लगा दो। किन्तु एक ही दिन की चेष्टा से सफल काम नहीं बनोगे। कुछ समय पर्यन्त प्रयत्न चालू रखना होगा।

किस प्रकार से चेष्टा करोगे? जितना अधिक समय सम्भव होगा उनका चिन्तन करना। उनके ऐश्वर्य विभूति, महिमा एवं करुणा का निरन्तर ध्यान करना, वे ही तो तुम्हारे समस्त अभावों की पूर्त्ति करने में समर्थ हैं, एवं उनके बिना और कोई भी तो तुम्हारी अशान्ति मिटाने में समर्थ नहीं है—ऐसा विचार करते रहो। इस प्रकार की चिन्ता तथा विचार के परिणाम में उनके प्रति आकर्षण बढ़ेगा। जिन कर्मों को करने से इस प्रकार आकर्षण बढ़ेगा, उन कर्मों को अच्छी तरह करते रहना, और जिनको करने से मन उनसे दूर हट जाय, उन कर्मों का पूर्णतया परित्याग करने की चेष्टा करो। धर्माधर्म तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय में यह विचार ही एकमात्र मापदण्ड है।

धर्मलाभ के लिये शरीर की सहायता अवश्यक है, इसलिये स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना होगा। प्रयोजनीय खर्च निर्वाह करने के लिये यदि आवश्यक हो तो वैध उपायों द्वारा अर्थोपार्जन करने में सचेष्ट होना पड़ेगा। संयम और विचारादि के अनुशीलन के लिये योग्य अध्ययन की सहायता से अन्तःकरणवृत्ति की उत्कर्ष सिद्धि करनी होगी। जिनके संग से भगवद्भावकी वृद्धि होती है, जिनके उपदेश से, तथा जिनके दृष्टान्त से धर्म मार्ग पर आगे बढ़ सकोगे, ऐसे निष्काम तथा सत्यनिष्ठ ब्रह्मज्ञ का संग एवं सेवा करनी होगी। जिनके साथ

भगवत् प्रसंग की चर्चा करने से भक्ति बढ़ती है, वैसे निर्मल चित्त तथा संयमी मित्रों के साथ केवल भगवद् गुणानुवाद में ही लगे रहना। प्रेम और वैराग्य की प्राप्ति के लिये मनका संयम और निर्मलता की आवश्यकता है। इस हेतु से धर्मानुष्ठान करने में और सदा नीतिपरायण होने में ध्यान देना होगा। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण के प्रति, चाहे वह जैसा भी हो या कैसा भी व्यवहार करे, उसके प्रति सम-भाव रखना होगा। "सभी भगवान के प्रकाश हैं" 'सभी भगवान की सन्तान हैं'—इसी प्रकार की भगवान के साथ सम्बन्ध विशिष्ट अन्य किसी भावना का आश्रय लेकर समबुद्धि होने पर ही कल्याण होता है। किसी के प्रति प्रेम किसी के प्रति विद्वेष, किसी के प्रति अल्प-प्रेम और किसीके प्रति अधिक—इन सब विषय भावों का परित्याग करना होगा। स्मरण रखना। एकमात्र भगवान ही हमारे प्रेम के अधिकारी हैं और कोई नहीं। उनके लिये, उन्हें प्राप्त करने के लिये अथवा उनसे सम्बन्धयुक्त होने पर ही दूसरे किसी से प्रेम रख सकते हो अन्यथा नहीं। यदि दूसरे किसी पर स्वतन्त्र भाव से प्रेम रक्खोगे तो पूर्णतया भगवान में अर्पण करना सम्भव नहीं होगा।

आराम-विराम तथा भोग सुख के लिये, इन्द्रिय तृप्ति और यश मानादि के लिये, स्वार्थसिद्धि तथा अभिमान की पुष्टि के लिये कभी भी किसी भी कर्म को नहीं करना चाहिये। इन सब उद्देश्य सिद्धि के निमित्त अतीत के अनन्त जन्मों में जिन कर्मों को किया है उनसे तो दुःख की निवृत्ति करने में समर्थ नहीं हुए; बल्कि वे सब दुःख को अधिक बढ़ा रहे हैं।

'भगवान में मन लगाऊँ कैसे ?' संसार के क्षुद्र

से क्षुद्र सुखों की आशा को तो मन छोड़ना नहीं चाहता ! सुना है इन्हें न छोड़ने पर भगवत् प्राप्ति नहीं होगी । तो फिर उपाय क्या है ?' अच्छा ! क्या वे सब सुख तुम्हारे जीवन को मधुमय बना सकेंगे ? यदि वे न कर सके, और यदि वे तुम्हारे दुःख को न हटा सके तो फिर इन क्षणिक सुखों के लिये विषयों के साथ सम्बन्ध रखकर दुःखकी मात्राको क्यों बढ़ाना है ? इन आशाओं का परित्याग करके पूर्णतृप्ति लाभ की चेष्टा क्यों न की जाय ?

वानरों को लोग कैसे पकड़ते हैं, जानते हो ? छोटे मुँह वाले एक घड़े में मिठाई या उस प्रकार की कुछ खाने की वस्तु रख देते हैं, वानर उसे खाने के लालच से या उस सुखोपकरण के लोभ से घड़े में क्रमशः दोनों हाथ और सिर प्रवेश करा देता है। पश्चात् दोनों हाथों से मिठाई आदि को इकट्ठा कर जल्दी ही दोनों हाथ और सिर को एक ही साथ बाहर निकालने की चेष्टा करता है। किन्तु वैसा वह कर नहीं पाता। घड़े के छोटेसे मुँह में अटक जाता है। हाथकी मिठाई नहीं छोड़ता है और न बाहर आ सकता है। कुछ काल व्यर्थ चेष्टा करता हुआ वह दुर्बल और अवसन्न हो जाता है। तब मनुष्य उसे बाँधकर अपने इच्छानुसार कार्यों में लगा देते हैं। मिठाई के लोभ से बानर की बुद्धि -भ्रष्ट हुई, बन्धन में आ पड़ा एवं परतंत्र हो गया। केवल सामान्य मिठाई के परित्याग करने पर ही मुक्ति हो जाती किन्तु विचार विहीन मन ऐसा करने में समर्थ नहीं हुआ !

पहिले ही कहा था, संसार के साथ तुम्हारा सम्बन्ध कुछ भी नहीं। संसार में "माया के सूत्र में सभी गुँथे हुए हैं"। सब सम्बन्ध केवल भगवान के साथ हैं, यह व्यक्ति मेरा मामा है इसलिये इनके निमित्त अन्याय कर्म भी करना

पड़ेगा; यह मेरा साला है, इसे प्रसन्न करने के लिये मनुष्यत्व का परित्याग करना होगा; यह मेरा बन्धु है, इसके प्रेमपूर्ण आग्रह के लिये इन्द्रियभोग में आसक्त होना पड़ेगा—ये सब अधः पतित तथा आत्मविस्मृत मन के ही उद्‌गार हैं, विचारवान मनुष्यों के नहीं। जगत का जो अंश तुम्हारी धर्म प्राप्ति में सहायता देगा, उसके साथ ही तुम धर्मलाभ के लिये जितना समय आवश्यक हो अपनी मित्रता का सम्बन्ध रख सकते हो। भक्ति ग्रन्थों में श्रेष्ठतम श्रीमद्‌भागवत में कहा है:—

"गुरु र्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या,
न्न मोचयेत् यः समुपेत मृत्युम्॥"

"चाहे वह गुरु हो, स्वजन हो, पिता और माता हो, देवता भी हो और पति भी हो—यदि वह संसार जाल में आवद्ध व्यक्ति को मुक्ति के लिये सहायता न दे, वह किस काम का ?

तो क्या माता-पिता प्रभृति से सम्बन्ध नहीं रखना होगा ? सो नहीं। समाज ने जिसके प्रति जिस प्रकार कर्त्तव्य का विधान किया है, एवं जिस प्रकार रीति-नीति का नियम बनाया है, धर्म में हानि न पहुँचाकर यथासम्भव उसके अनुकूल व्यवहार करना पड़ेगा, कार्य के लिये, सम्पर्क के लिये, तथा शिष्टाचार के सहित जिसके प्रति जैसा व्यवहार समाज में निर्धारित है, वैसा ही करो। परन्तु किसी को भी अपना मन मत दो। उदासीनभाव से, समबुद्धि के साथ या समान प्रेम से सबके साथ व्यवहार करो। अवश्य व्यवहार में भेद तो रहेगा ही, किन्तु मन सम रहेगा। यह कठिन कार्य है किन्तु प्रयत्न से कठिन भी सुगम हो जाता है।

और भी एक बात है, इन्द्रियाँ बहुत ही दुष्ट हैं। सदा ही सावधान रहना चाहिये। स्वास्थ्य की रक्षाके निमित्त मानो मैं स्वादिष्ट भोजन ले रहा हूँ, खाते हुए स्वाद के कारण लोभ हो गया। अन्त में जब शरीर के लिये उस खाद्य की आवश्यकता नहीं होगी। तब भी जिह्वा की तृप्ति के लिये हम उसे खाने की चेष्टा करेंगे। एक धार्मिक युवक का संग मिला। उससे धर्म की बातें सुनने से आनन्द मिलता है, धर्मोन्नति के लिये उसके पास आना-जाना है। किन्तु सम्भवतः मेरे अनजाने में उसका सुन्दर मुख मेरे हृदयपट पर अंकित होने लगा, उससे धर्म की बातें सुनने में भी आनन्द मिलता है और उसके मुँह को देखने में भी आनन्द मिलता है। दूसरों से जो बातें सुनकर अल्प सुख मिलता है उससे उन्हीं बातों को सुनने में अधिक सुख अनुभव होता है। अन्त में मेरे कान उसकी बातों पर अल्प ध्यान देते हैं परन्तु मेरे नेत्र पूर्ण-तन्मयता से उसके रूपमाधुर्य का ही उपभोग करने लगते हैं। अब उसके अंगसंग की इच्छा प्रबल होती है। कहाँ तो धर्मोन्नति के लिये उसके पास जाना प्रारम्भ किया था किन्तु अब इन्द्रियतृप्ति के लिये उसके पास जाना चाहता हूँ। जब भी इसप्रकार अधःपतनकी सम्भावना मालूम हो, उसी समय संयम और विचाररूपी दण्ड से मोहरूप घट को चूर्ण-विचूर्ण कर डालो।

जब भी अनुभव करो कि किसी के लिये चित्त चञ्चल हो रहा है, प्राण उथल-पुथल मचा रहे हैं, तभी समझना होगा कि इस प्रकार की आसक्ति समूल त्यागने योग्य है। जब बन्धुओं के प्रति प्रीति कर्त्तव्य कर्म में बाधा पहुंचती है, न्याय-निष्ठा के प्रतिकूल बन जाती है, वीर्य का नाश करती है, उद्यम और उत्साहको नष्ट करती है, सरलता को क्षीण करके, विचार

बुद्धि को मलिन कर देती है, प्रलोभन के मार्ग में आकृष्ट कर लेती है और संयम को हटा देती है तभी समझना चाहिये कि यह सर्वथा त्याज्य है। जितनी ही पवित्रता बढ़ेगी उतना ही समझोगे कि वे सब कामरूप समुद्र की तरंगमात्र हैं। रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिये रसगुल्ले की ओर आकृष्ट होना जितना दोष-युक्त है, उतना ही दोषयुक्त है नयनों की तृप्ति के लिये रूप के प्रति आकृष्ट होना।

और भी एक बात है। "कोई मदिरा में आसक्त होकर" डाक्टर ने स्वास्थ्य की रक्षा के लिये आवश्यक कहा" ऐसा कहकर मदिरा पीता है; और कोई "उसके पास जाकर पाठ समझ लेता है, मुझे समझाने को और कोई नहीं है" ऐसा कहकर लोगों की आखों में धूल डालकर अपने बन्धु का अंग-संग करने को जाता है। इस प्रकार की कपटता सर्वथा त्याज्य है। उपनिषद् कहते हैं—"कपटता, मिथ्या और माया (छल) रहते हुए भगवत् प्राप्ति नहीं होती।"

यहीं पत्र समाप्त करता हूँ। फिर भी कहता हूँ संसार से मन को उठा लेने की चेष्टा करनी होगी। सम्पूर्ण मन से भगवान की ही सेवा करनी होगी तथा उन्हीं से प्रेम करना होगा। उनमें आत्मविसर्जन करना होगा। भक्तों के प्रेमियों के साथ एक स्वर से सरलतासे कहना होगा:—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

श्रीकाशीधाम
१९-९-१९१८ ई०

स्वामी श्रीपूर्णानन्द गिरि, द्वारा लिखे

अन्य ग्रन्थ :—

१. वेदवाणी	पहला, दूसरा, तीसरा भाग	बंगलाभाषा
२. वेदवाणी	पहला, तीसरा भाग	हिन्दी भाषा
३. Yoga and Perfection		अंग्रेजी भाषा
४. पूर्ण ज्योति		संस्कृत भाषा
५. पूर्ण ज्योति		संस्कृत भाषा

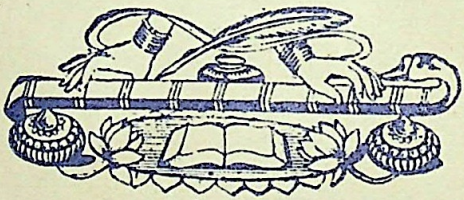

मुद्रक : राजू प्रिन्टिंग प्रेस, मथुरा गेट–वृन्दावन (मथुरा)